

अंतर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय परिस्थिति का मूल्यांकन

प्रस्तावना

लगभग 15 साल पहले 1987 में सम्पन्न हुयी भारत की कम्युनिस्ट लीग (मा.ले.) की दूसरी कान्फ्रेंस में, जो०

भारत की क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के साथ एकता कान्फ्रेंस भी थी, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति और राष्ट्रीय परिस्थिति के मूल्यांकन पर दो दस्तावेज भी स्वीकार किये गये थे। ये दस्तावेज बाद में पार्टी के मुखपत्र 'लाल तारा' के तीसरे अंक में 'अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति का आकलन' और 'भारतीय क्रांति की मंजिल के बारे में' नाम से प्रकाशित हुये थे। इनमें क्रमशः अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक नव उपनिवेशवाद की थीसिस तथा राष्ट्रीय स्तर पर समाजवादी क्रांति की मंजिल की लाइन सूत्रित की गई थी।

तब से गुजरे पन्द्रह सालों के समय ने, अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर हुये घटनाक्रम ने, उपरोक्त थीसिस और लाइन के बुनियादी तौर पर सही होने को साबित किया है। पन्द्रह सालों के जटिल और काफी उठा-पटक भरे समय ने यह साबित किया है कि उपरोक्त थीसिस और लाइन के मूल तर्क और बुनियादी प्रस्थापनायें सही हैं और इसी कारण उनसे निकाले गये बुनियादी निष्कर्ष सही हैं।

इसके बावजूद इन पन्द्रह सालों के घटनाक्रम ने यह भी दिखाया है कि उस समय के हमारे मूल्यांकन में कुछ विच्युतियां थीं, कुछ कमियां थीं और कुछ गलतियां थीं। इनमें से पहली विचारधारात्मक थी, दूसरी सांगोपांग मूल्यांकन की कमी की थी तथा तीसरी ऐसी जो घटनाओं के दूसरे रूप में विकसित होने के कारण बाद में गलत साबित हो जाती है। इनमें से पहली ज्यादा गंभीर चीज है तथा दूसरी कम गंभीर।

इनमें सबसे गंभीर है सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के समाजवादी समाज के पूंजीवादी समाज में रूपान्तरण के बाद की स्थिति के बारे में हमारी अवस्थिति। उपरोक्त दस्तावेजों में इनके बारे में जो अवस्थिति अपनाई गई है वह कुछ हद तक अधिभूतवादी - भाववादी दृष्टिकोण का शिकार है। इस दृष्टिकोण की जड़ है इन भूतपूर्व समाजवादी देशों के बारे में पेट्री बुर्जुआ मोह से मुक्त न हो पाना।

यह सच है कि इन समाजों के बारे में हमारे पास पर्याप्त तथ्य उपलब्ध नहीं थे तथा खुद इन देशों के संशोधनवादी और पश्चिमी साम्राज्यवादी दोनों प्रयासरत थे कि वास्तविक स्थिति दुनिया की जनता के सामने उजागर न हो, फिर भी सही मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्थान करने पर इनके बारे में गलत मूल्यांकन से बचा जा सकता था। इस गलत मूल्यांकन में केवल इनके विस्फोटक स्थिति तक पहुंच जाने को देख पाने की अक्षमता ही नहीं थी। इससे भी बड़ी बात थी यह सोचना कि इन देशों में अभी भी उन्नत सामाजिक संस्थाएं बची हुयी थीं। इसी कारण इन्हें पूंजीवादी और इनकी राज्यसत्ताओं को फासीवादी चरित्र का बताने के बावजूद इन समाजों को बाकी साम्राज्यवादी व तीसरी दुनिया से बेहतर बताया गया था।

इसी तरह इनके बारे में यह मूल्यांकन भी गलत था कि वे एक दोलायमान चाल से चल रहे हैं जो कभी उन्हें उदारीकरण तथा बाजार की शक्तियों की ओर ले जाती है तो कभी "समाजवादी" नियंत्रण और योजना की

ओर तथा इन समाजों में क्रांति के बाद वर्तमान संस्थाओं के आधार पर ही वे समाजवाद की ओर लौट सकते हैं। यह भी उसी अधिभूतवादी, भाववादी दृष्टिकोण का परिणाम था।

साम्राज्यवाद की ताकत और उसकी भविष्य की गति के मूल्यांकन में भी कुछ गलतियां थीं। पन्द्रह साल बाद आज यह साफ है कि साम्राज्यवाद के बारे में तब हमारा मूल्यांकन दोनों अतिमहाशक्तियों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता से काफी ज्यादा प्रभावित हो रहा था और हम इसके प्रति सचेत नहीं थे। हम यह नहीं देख पाये कि यदि यह अंतर्विरोध हल हो जाता है, खासकर अमरीकी साम्राज्यवाद के पक्ष में तो क्या परिणाम निकलेगा। इसीलिए हमने आकलन की यह गलती की कि साम्राज्यवाद लगातार कमजोर होता जायेगा। एक दूरगामी, वस्तुगत प्रवृत्ति के तौर पर यह बात सही है (जिसमें मुख्य भूमिका जनता के संघर्षों की है)। परन्तु तात्कालिक तौर पर साम्राज्यवाद ज्यादा ताकतवर और हावी भी हो सकता है, यह हम नहीं देख पाये। 1990 के दशक में यही हुआ।

इसके साथ ही आर्थिक नव-उपनिवेशवाद की अपनी थीसिस में हमने साम्राज्यवादी उत्पीड़न और जोर-जबर्दस्ती के राजनीतिक-सामरिक-सामाजिक-सांस्कृतिक इत्यादि रूपों पर उतना जोर नहीं दिया जितना दिया जाना चाहिए था। यह सही है कि आर्थिक नव उपनिवेशवाद के वर्तमान चरण में साम्राज्यवादी शोषण मूलतः पूंजी के मेकेनिज्म से, आर्थिक तरीके से हो रहा है। परन्तु साम्राज्यवाद एक सम्पूर्ण आर्थिक-राजनीतिक-सामरिक-सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था है। इसीलिये वह उत्पीड़न के अन्य रूपों का हर संभव इस्तेमाल करेगा। राजनीतिक और सामरिक जोर-जबर्दस्ती इसके अंग हैं।

कुल मिलाकर भी साम्राज्यवाद और खासकर वित्त पूंजी के ताने-बाने की ताकत को हमारे मूल्यांकन में अपेक्षाकृत कम करके आंका गया है।

इसी तरह हमारे मूल्यांकन में तीसरी दुनिया के औपनिवेशिक देशों में उनकी औपचारिक राजनीतिक आजादी के बाद विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को अपेक्षाकृत बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है। हालांकि विऔपनिवेशीकरण की जिस प्रवृत्ति और प्रक्रिया का जिक्र है वह सही है, परन्तु इसकी अंतिम परिणति का वर्णन अपेक्षाकृत अतिरंजित है। इन देशों का साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी के ताने-बाने से अलगाव और उसकी पकड़ का मूल्यांकन किंचित सही नहीं है। इनकी आर्थिक आत्मनिर्भरता का वर्णन अपेक्षाकृत अतिरंजित है।

इस विऔपनिवेशीकरण के वाहक तीसरी दुनिया के पूंजीपति वर्ग की इस प्रक्रिया को पूरा कर पाने की क्षमता का वर्णन भी किंचित सही नहीं है। उसकी क्षमता को कुछ बढ़ा-चढ़ाकर देखा गया है। हालांकि उसकी भूमिका और गति का मूल्यांकन ठीक है परन्तु उसकी क्षमता की सीमाओं को कुछ हद तक नजरअंदाज किया गया है।

इसी की परिणति के बतौर हमारे मूल्यांकन में दक्षिण अफ्रीका के राष्ट्रीय संघर्ष के परिणाम और नियति को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है। इसके बारे में मूल्यांकन को बाद की घटनाओं ने गलत साबित कर दिया है।

‘भारतीय क्रांति की मंजिल के बारे में’ के तहत भारतीय समाज का जो मूल्यांकन पेश किया गया है, उसमें भी भारतीय समाज में साम्राज्यवाद और सामंतवाद के प्रभाव को अपेक्षाकृत कम करके आंका गया है।

इन गलतियों, कमियों ने हमारे संगठन द्वारा प्रस्तुत मूलतः सही थीसिस और लाइन को पूरे कम्युनिस्ट आंदोलन में अपेक्षित स्वीकार्यता मिलने में बाधा पैदा की। इसने साम्राज्यवाद और भारतीय क्रांति की मंजिल के

बारे में कम्युनिस्ट आंदोलन में स्वस्थ बहस चलाने के हमारे प्रयास में भी बाधा डाली। यही नहीं, इसने साम्राज्यवाद और पूंजीवाद विरोधी संघर्ष को आगे बढ़ाने में भी प्रकारान्तर से बाधा पैदा की।

हम उपरोक्त गलतियों और कमियों को खुलेआम स्वीकार करते हैं और इसके लिये आत्म-आलोचना करते हैं।

आगे अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिस्थिति का जो मूल्यांकन पेश किया जा रहा है, उसमें गलतियों, कमियों को ठीक करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही पिछले पन्द्रह साल में घटित घटनाक्रम को संज्ञान में लेते हुए वर्तमान परिस्थिति का एक वस्तुगत मूल्यांकन पेश किया गया है।

अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति

I. साम्राज्यवादी देशों की वर्तमान स्थिति

समूचा साम्राज्यवादी विश्व पिछले तीन दशक से आर्थिक ठहराव का शिकार है। युद्धोत्तर यूरोपीय और जापानी पुनर्निर्माण के पूरा हो जाने के बाद से ही ये सारी अर्थव्यवस्थाएं अत्यन्त निम्न विकास दर से आगे नहीं जा पा रही हैं। यही नहीं, इस आम ठहराव की अवस्था के भीतर ही अब मंदी और तेजी के दौर आ-जा रहे हैं। साम्राज्यवादी देश इस ठहराव को तोड़ने में किसी भी तरह सफल नहीं हो पा रहे हैं।

आज आर्थिक ठहराव की इस अवस्था में पूंजीपति वर्ग के बीच प्रतियोगिता लगातर तीव्र से तीव्रतर होती जा रही है। यह हर देश की साम्राज्यवादी कम्पनियों — बहुराष्ट्रीय, राष्ट्रपारी निगमों के बीच तीव्र तो हो ही रही है, साथ ही साम्राज्यवादी देशों और उनके समूहों/ धड़ों के बीच भी बढ़ रही है। देशों के भीतर तथा सीमापार भी कम्पनियों के विलय व अधिग्रहण की बाढ़ आयी हुई है। विलय और अधिग्रहण के एक के बाद एक कीर्तिमान स्थापित किये जा रहे हैं। इसी तरह साम्राज्यवादी देशों और धड़ों के बीच व्यापार युद्ध तेज हो रहा है।

आर्थिक ठहराव के चलते और संगठित मजदूर आंदोलन के अत्यन्त कमजोर होने के चलते इन सभी देशों में पूंजीपति वर्ग ने मजदूर वर्ग पर हमला बोल दिया है तथा मजदूरों द्वारा पहले हासिल की गई सुविधाओं और रियायतों को एक के बाद एक छीन रहा है। कल्याणकारी राज्य को धीरे-धीरे खत्म किया जा रहा है और आम मेहनतकश जनता को कंगाली बदहाली की ओर धकेला जा रहा है। मेहनतकश जनता की हालत न केवल सापेक्षिक तौर पर बल्कि कई जगह तो निरपेक्ष तौर पर भी गिर रही है।

तालिका : 1
सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि दर %

देश	1990	1991	1992	1993	1994	1995	1996	1997	1998	1999
संयुक्त राज्य अमेरिका	1.2	-0.7	2.6	3.0	3.5	2.7	3.6	4.4	4.4	4.2
जापान	4.8	4.3	1.1	0.1	0.6	1.5	5.1	1.6	-2.5	0.2
जर्मनी	5.7	4.5	2.1	-1.3	2.7	1.7	0.8	1.4	2.1	1.6
फ्रांस	2.5	0.8	1.2	-0.9	2.8	1.8	1.1	1.9	3.2	2.9
इंग्लैण्ड	0.4	-2.2	-0.6	1.9	4.3	2.8	2.6	3.5	2.6	2.2
कनाडा	-0.2	-1.7	0.7	2.4	3.9	2.8	1.5	4.4	3.3	4.5
इटली	2.1	1.2	0.7	-0.7	2.2	2.9	1.1	1.8	1.5	1.4
सभी विकसित देश	2.5	0.8	1.7	1.2	2.9	2.5	3.2	3.5	2.5	3.0
G-7	2.4	0.8	1.7	1.3	2.8	2.3	3.0	3.2	2.5	2.9
यूरोपीय यूनियन	3.0	1.5	1.0	-0.4	2.9	2.4	1.7	2.5	2.7	2.4
सभी कम विकसित देश	3.8	4.5	5.9	6.1	6.7	6.1	6.5	5.7	3.5	3.8

तालिका : 2
बेरोजगारी की दर %

देश	1990	1991	1992	1993	1994	1995	1996	1997	1998	1999
संयुक्त राज्य अमेरिका	5.4	6.6	7.3	6.7	6.1	5.6	5.4	4.9	4.5	4.2
जापान	2.1	2.1	2.2	2.5	2.9	3.1	3.4	3.4	4.1	4.7
जर्मनी	4.8	4.2	4.6	5.8	9.6	8.2	8.6	9.5	8.9	8.3
फ्रांस	8.9	9.4	10.4	11.6	12.2	11.7	12.3	12.4	11.8	11.1
इंग्लैंड	7.0	8.8	10.0	10.3	9.4	8.7	7.9	6.5	5.9	6.0
कनाडा	8.1	10.2	11.2	11.1	10.4	9.5	9.6	9.1	8.3	7.6
इटली	10.3	9.9	10.5	10.2	11.3	11.9	11.7	11.8	11.9	11.5
सभी विकसित देश	6.1	6.8	7.5	7.8	7.9	7.8	7.3	7.0	6.8	6.7
G-7	8.1	10.2	11.2	11.1	7.2	6.8	6.7	6.4	6.2	6.0

तालिका : 3
सकल राष्ट्रीय उत्पाद : विकसित देश
सन् - 1998

देश	सकल राष्ट्रीय उत्पाद	
	कुल (अरब डालर)	प्रति व्यक्ति (डालर)
1) संयुक्त राज्य अमेरिका	7903	29240
2) जापान	4089	32250
3) जर्मनी	2180	26590
4) फ्रांस	1465	24210
5) इंग्लैण्ड	1264	21410
6) इटली	1157	20090
7) कनाडा	581	19170
8) स्पेन	552	14100
9) नीदरलैण्ड	389	24780
10) आस्ट्रेलिया	387	20640
11) रूस	332	2260
12) स्विटजरलैण्ड	284	39980
13) बेल्जियम	259	25380
14) स्वीडन	226	25580
15) आस्ट्रिया	217	26830
16) तुर्की	200	3160
17) डेनमार्क	175	33040
18) नार्वे	152	34310
19) फिनलैण्ड	125	24280
20) यूनान	123	11740
21) पुर्तगाल	106	10670
22) आयरलैण्ड	69	18710
23) लक्जमबर्ग	19	45100
कुल यूरोपीय समुदाय	8331	22098

कुल विश्व	28109	4648
-----------	-------	------

तालिका : 4

सकल राष्ट्रीय उत्पाद : तीसरी दुनिया के सबसे बड़े कुछ देश
सन् - 1998

देश	सकल राष्ट्रीय उत्पाद	
	कुल (अरब डालर)	प्रति व्यक्ति (डालर)
1) चीन	924	750
2) ब्राजील	767	4630
3) भारत	427	440
4) दक्षिण कोरिया	398	8600
5) मैक्सिको	368	3840
6) अर्जेन्टीना	290	8030
7) ताइवान	268	12280
8) दक्षिण अफ्रीका	137	3310
9) इंडोनेशिया	130	640
10) इरान	102	1650
11) मिश्र	79	1290
12) अल्जीरिया	46	1550

पूंजीपति वर्ग के आम संकट, उसके मजदूर वर्ग पर बेलगाम आक्रमण तथा आम जनता की तबाही की इन स्थितियों में इन देशों की राजनीतिक व्यवस्था लगातार ज्यादा से ज्यादा प्रतिक्रियावादी होती जा रही है। इन देशों में जनता को प्राप्त आम जनवादी अधिकारों पर कूठाराघात किया जा रहा है तथा दमनतंत्र ज्यादा से ज्यादा मजबूत होता जा रहा है। ऊपरी तौर पर जनवाद के होने और शासकों द्वारा जनवाद का शोर मचाये जाने के बावजूद मजदूर वर्ग और आम जनता के जनवादी अधिकार सीमित हो रहे हैं।

इन देशों में खुला और निजी पूंजीवाद होने के बावजूद राज्य अधिकाधिक पूंजीपति वर्ग के साथ एकाकार होता गया है। यही नहीं कि इजारेदार पूंजीपति वर्ग के सदस्य सीधे-सीधे राज्य मशीनरी के विभिन्न पदों पर सत्तानशीन हैं, बल्कि इजारेदार कम्पनियों के अति विशालकाय हो जाने के चलते उन्होंने राज्य के मामलों में सीधा हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया है। ये इजारेदार कम्पनियां राज्य की नीतियों और कार्यवाहियों को सीधे प्रभावित या यहां तक कि संचालित कर रही हैं। कुल मिलाकर इन साम्राज्यवादी देशों में एक विशेष किस्म का राजकीय इजारेदार पूंजीवाद कायम हुआ है। इसमें खुद अर्थव्यवस्था में राज्य की हिस्सेदारी अपेक्षाकृत कम है (और वह

कल्याणकारी राज्य पर आक्रमण के बाद लगातार कम होती जा रही है) लेकिन इसके बरक्स राज्य में इजारेदार पूंजी का सीधा हस्तक्षेप है।

यह राजकीय इजारेदार पूंजीवाद समूचे पूंजीपति वर्ग के हित में समाज व्यवस्था का संचालन कर रहा है, लेकिन राजनीतिक व्यवस्था लगातार संकटग्रस्त होती जा रही है। जिन देशों में संसदीय प्रणाली लागू है, वहां यह संकट एक के बाद एक सरकार बनने और बिगड़ने के रूप में भी अभिव्यक्त हो रहा है। हालांकि इन देशों में राजनीतिक अव्यवस्था और सामाजिक उथल-पुथल ज्यादा नहीं है, तब भी राजनीतिक प्रक्रिया से आम जनता का उदासीन, यहां तक कि उसके प्रति सिनिकल होते चले जाना राजनीतिक संकट की तीव्रता को प्रदर्शित करता है। इन सभी देशों में चुनाव प्रक्रिया संचार माध्यमों का खेल और राजनीतिक पार्टियों - नेताओं के विदूषकीय कारनामों का प्रदर्शन बन कर रह गई है जिसमें मुश्किल से आधी जनता कोई दिलचस्पी ले रही है। वैसे तो पूरा पूंजीवादी युग ही महान नायकों से विहीन होता है, शौर्यहीन होता है, पर पिछले सालों में तो इन देशों में बौने-विदूषक राजनीतिज्ञों की बाढ़ आ गई है। इन देशों में यह बात खुलेआम कही जा रही है कि पिछले दो-तीन दशकों में ऐसा कुछ भी नहीं पैदा हुआ जो प्रेरणाप्रद और ऐतिहासिक हो।

इन देशों की सामाजिक व्यवस्था भी अधिकाधिक अमानवीय होती गई है। पूंजीपति वर्ग ने अपने मुनाफे को बढ़ाने के लिए जो कुछ किया है उसने अकथनीय सामाजिक तनावों, विग्रहों और संकट को जन्म दिया है। परिवार टूट गये हैं और बूढ़े अलग-थलग रहते हुए अपने मरने का इंतजार कर रहे हैं। एकल माताओं की बाढ़ आ गई है। आधे से ज्यादा विवाहों की परिणति तलाक में हो रही है। औरतों पर हिंसा और उनके खिलाफ अत्याचार की घटनाएं बढ़ रही हैं। पूरे समाज में हिंसा और नशाखोरी बढ़ रही है। इन देशों में रहने वाली गैर-गोरी आबादी के साथ भेदभाव बढ़ रहा है। पूरे समाज में ही असहनशीलता, असहिष्णुता और फासीवादी उन्माद बढ़ रहे हैं।

पूंजीपति वर्ग ने अपने संचय को अधिकाधिक बढ़ाने के लिये इन देशों में एक अत्यंत निकृष्ट कोटि की उपभोक्ता संस्कृति को जन्म दिया है। पूंजीपति वर्ग के लिये काम करना और पूंजीपति वर्ग का माल खरीदकर उपभोग करना इन समाजों में इंसान का एकमात्र कार्य बन गया है। यह उपभोक्ता संस्कृति लगातार बढ़ते पैमाने पर अमानवीय होती जा रही है। इसका एक पहलू है साम्राज्यवादी देशों से इतर बाकी दुनिया की जनता पर साम्राज्यवादियों द्वारा ढाये जाने वाले कहर के प्रति इनकी जनता के एक बड़े हिस्से का असंवेदनशील होते जाना, यहां तक कि उसे जायज मानना।

इजारेदार पूंजीपति वर्ग ने संचार और प्रचार माध्यमों पर कब्जा कर उनका इस्तेमाल समूची जनता की चेतना को कुंद करने और उसे पूंजीपति वर्ग के पक्ष में मोड़ने में किया है। इन संचार माध्यमों पर पकड़ बनाकर पूंजीपति वर्ग ने मजदूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता पर अपना भौतिक ही नहीं, वैचारिक वर्चस्व भी कायम कर रखा है। पूंजीपति वर्ग न केवल यह तय कर रहा है कि मजदूर वर्ग और आम मेहनतकश कहां, किस स्थिति में और किन शर्तों पर काम करें बल्कि यह भी तय कर रहा है कि वे क्या उपभोग करें, क्या सोचें और क्या न सोचें। इस वैचारिक वर्चस्व के चलते जीवन के हालात अधिकाधिक खराब होते जाने के बावजूद मजदूर और आम मेहनतकश जनता पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ नहीं हो पा रही है।

मजदूर आंदोलनों और उससे भी ज्यादा क्रांतिकारी आंदोलनों का कमजोर होना इन सभी देशों की एक अन्य विशेषता है। यहां पहले से चली आ रही स्थापित ट्रेड यूनियनों पूंजीपति वर्ग के आक्रमण के सम्मुख प्रभावहीन

हो गयी हैं। उनकी सौदेबाजी की क्षमता अत्यंत घट गई है। इस कारण मजदूर वर्ग पीछे हटने के लिए मजबूर हुआ है। हालांकि पिछले पांच-छः सालों में मजदूर वर्ग की ओर से कुछ नये प्रतिरोध उठे हैं, लेकिन तब भी पूंजीपति वर्ग के आक्रमण को रोकने से वह अभी काफी दूर है, पीछे धकेलने की तो बात ही क्या।

कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन भी इन सभी देशों में अत्यन्त कमजोर है। यह कुछ छोटे-छोटे और प्रभावहीन ग्रुपों तक सीमित है। व्यापक मजदूर और मेहनतकश आबादी इन संगठनों से दूर या तो असंगठित है या फिर शासकवर्गीय व सुधारवादी नेताओं के साथ।

कुल मिलाकर इन साम्राज्यवादी देशों में आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक संकट काफी तीखा है और वह लगातार और ज्यादा तीखा होता जा रहा है। लेकिन तब भी वह क्रांतिकारी संकट से काफी दूर है और यहां शासक वर्ग अभी भी अपेक्षाकृत काफी मजबूती से जमा हुआ है। सशक्त मजदूर और कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन के अभाव में उसे कोई चुनौती भी नहीं मिल पा रही है।

संयुक्त राज्य अमेरिका आज पूरे साम्राज्यवादी विश्व का नेता है। सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के बिखर जाने के बाद से यह पूरी दुनिया के पैमाने पर अपनी चौधराहट कायम करने के लिए इस समय एड़ी-चोटी का जोर लगा रहा है और कुछ हद तक इसमें सफल होता भी दीख रहा है।

अमेरिका की अर्थव्यवस्था भी उसी आम ठहराव की शिकार है जिसकी समूची साम्राज्यवादी दुनिया। एक लम्बे समय से इसकी भी अर्थव्यवस्था निम्न विकास दर के स्तर पर पड़ी हुई है। लेकिन तब भी, 1990 के दशक के मध्य और उत्तरार्ध में इसकी विकास दर बाकी साम्राज्यवादी देशों से ज्यादा रही है। सन् 2001 में यह मंदी का शिकार हो गई और यह मंदी अभी भी जारी है।

1990 के दशक के मध्य और उत्तरार्ध की अमरीकी अर्थव्यवस्था की तेजी की खासियत यह थी कि यह रोजगारविहीन तेजी थी। शेयर बाजार तो नयी-नयी ऊंचाइयां छू रहा था किन्तु उसी दर से रोजगार में वृद्धि नहीं हो रही थी। यही नहीं इस पूरे दौर में अमरीका की इजारेदार कम्पनियों ने बड़े पैमाने पर छंटनी की। इजारेदार कम्पनियों ने अपने मजदूरों के खिलाफ युद्ध घोषित कर दिया और इन्होंने एक के बाद एक प्लान्टों में मजदूरों की संख्या को घटाना शुरू कर दिया। इसे उन्होंने लेबर रीस्ट्रक्चरिंग और डाउन साइजिंग का नाम दिया।

मजदूरों की बड़े पैमाने पर छंटनी के साथ इजारेदार कम्पनियों ने अपने यहां स्थाई मजदूरों के बदले अस्थाई और ठेके वाले मजदूरों को काम पर रखना शुरू किया। इस तरह कुल मिलाकर स्थाई मजदूरों की संख्या घटी और अस्थाई तथा ठेके वाले मजदूरों की संख्या बढ़ी।

इन सबने मजदूरों की पूंजीपति वर्ग के मुकाबले सौदेबाजी की क्षमता को काफी कमजोर बना दिया। इसका सीधा असर मजदूरी की दर और अन्य सुविधाओं पर पड़ा। इसके चलते मजदूरी में सापेक्षिक ही नहीं, निरपेक्ष गिरावट भी आयी। यही नहीं, अमेरिका में मजदूरों द्वारा साल भर में किये जाने वाले श्रम के घंटों की संख्या में इस दौरान भारी मात्रा में बढ़ोत्तरी हुयी। तकनीक और उत्पादन के विकास के साथ-साथ काम के घंटे कम होने के बदले बढ़े हैं। आज अमेरिका में मार्क्स द्वारा 'पूंजी' में वर्णित पूंजी के संकेंद्रण की प्रक्रिया और उसके परिणाम चारों ओर तीक्ष्णता से दृष्टिगोचर हैं।

अमेरिकी सरकार द्वारा जारी बेरोजगारी के आंकड़े अमरीका में बेरोजगारी की वास्तविक तस्वीर पेश नहीं करते। इनमें उन मजदूरों का जिक्र नहीं होता जो काम के अभाव में या कम वेतन के कारण काम तलाशना ही छोड़ चुके हैं। इसी तरह इसमें उन भारी संख्या वाले मजदूरों की गिनती नहीं है जो सैन्य-औद्योगिक प्रतिष्ठानों में

काम करते हैं। ये प्रतिष्ठान समूचे अमेरिकी पूंजीपति वर्ग के लिए आज भारी मुनाफे का स्रोत बने हुये हैं लेकिन जिनका उत्पाद केवल पूंजीपति वर्ग के शासन की रक्षा करने के ही काम आता है।

अमेरिकी इजारेदार पूंजीपति वर्ग अपने मजदूर वर्ग को अधिकाधिक चूस कर ही संतुष्ट नहीं है। अपना-अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए वे एक दूसरे के साथ भी भीषण गलाकाटू प्रतियोगिता में उलझे हुए हैं। इस प्रतियोगिता में टिक पाने के लिए ये अपने आकार को उच्च से उच्चतर स्तर पर ले जा रहे हैं। दूसरी कम्पनियों के साथ विलय और अधिग्रहण इसी का परिणाम हैं। पिछले सालों में विलय और अधिग्रहण की बाढ़ सी आ गई है। यह विलय और अधिग्रहण न केवल देश के भीतर हो रहा है बल्कि देश के बाहर भी हो रहा है। अमरीकी इजारेदार कम्पनियां यूरोपीय कम्पनियों के साथ विलय कर रही हैं या उनका अधिग्रहण कर रही हैं। यूरोपीय और जापानी कम्पनियां भी अपनी बारी में अमरीकी कम्पनियों के साथ यही कर रही हैं। हालात यहां तक पहुंच गये हैं कि पिछले सालों में प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश का लगभग तीन चौथाई हिस्सा विलय और अधिग्रहण में ही गया है।

विलय और अधिग्रहण की इस प्रक्रिया से पहले से ही भीमकाय इजारेदार कम्पनियों का आकार और ज्यादा बढ़ गया है। यह लगातार उस स्तर पर पहुंचता जा रहा है जहां अधिकाधिक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएं इनकी तुलना में पीछे छूटती जा रही हैं। इजारेदार कम्पनियों के इस विशाल आकार ने उत्पादन के अत्यन्त ऊंचे स्तर के समाजीकरण को जन्म दिया है और बढ़ाया है। ये कम्पनियां एक ही केन्द्रीय प्रबन्धतंत्र के तहत पूरी दुनिया के पैमाने का विकेन्द्रीकृत उत्पादन कर रही हैं। ये कम्युनिस्ट उत्पादन प्रणाली के लिए वस्तुगत परिस्थितियां अधिकाधिक तैयार करती जा रही हैं।

रीगन के जमाने से ही अमरीकी पूंजीपति वर्ग ने अपने मजदूर वर्ग के खिलाफ जो युद्ध छेड़ा उसके कारण अमरीकी उद्योग की उत्पादकता पिछले दशक में तेजी से बढ़ी है। एक समय जापान, जर्मनी से उत्पादकता में पीछे छूट रहा अमरीका फिर आगे आ गया है। खासकर कम्प्यूटर और इलेक्ट्रॉनिक्स उद्योग में उसने एक बार फिर अपनी धाक बना ली है। आज पर्सनल कम्प्यूटर, साफ्टवेयर और इंटरनेट के क्षेत्र में अमरीकी इजारेदार कम्पनियों का दबदबा है। अमरीका से पीछे छूट रहे जापान और यूरोपीय देश अब उसी रीगन कार्यप्रणाली का इस्तेमाल करने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे हैं।

अपने मजदूरों को चूसकर और पूरी दुनिया को लूटकर अमरीकी इजारेदार पूंजीपति वर्ग जो पूंजी इकट्ठी कर रहा है उसके उत्पादन क्षेत्र में लगने की संभावनाएं क्षीण से क्षीणतर होती जा रही हैं। इस पूंजी का एक हिस्सा ही बाजार की जरूरतों से ज्यादा पैदा कर दे रहा है। ऐसे में संचित पूंजी अधिकाधिक सट्टेबाजी के क्षेत्र में प्रवेश कर रही है। शेयर बाजार में बीच-बीच के धक्कों के बावजूद निवेश और उछाल तथा अन्य बीसियों प्रकार की सट्टेबाजियों में पूंजी निवेश। अमेरिकी (और बाकी साम्राज्यवादी देशों का भी) इजारेदार पूंजीपति वर्ग लेनिन के जमाने से कई गुना ज्यादा परजीवी हो चुका है। वह न केवल विदेशों में पूंजी निवेश के लिए कूपन काट कर अकूत दौलत बटोर रहा है बल्कि विशुद्ध सट्टेबाजी में भी लगा हुआ है। यह सट्टेबाजी इस स्तर पर पहुंच गयी है कि सारी दुनिया के वित्तीय तंत्र के लिए ही खतरा बन गई है। यह खुद साम्राज्यवादियों के नियंत्रण से भी बाहर जा रही है। 1990 के दशक के मध्य में मैक्सिको के संकट और उत्तरार्ध में दक्षिण-पूर्व एशिया के संकट से साम्राज्यवादियों के हाथ-पांव फूल गये थे। इसी कारण इन्होंने वहां बड़ी मात्रा में पूंजी झोंककर हस्तक्षेप किया। उन अर्थव्यवस्थाओं को बचाना उनका उद्देश्य नहीं था। इसके बदले वे खुद अपने आपको बचा रहे थे।

अत्यधिक संकेन्द्रित और सैन्यीकृत अमरीकी इजारेदार पूंजीवादी व्यवस्था ने खुद अपने मजदूर वर्ग और अन्य मेहनतकश जनता की जिन्दगी नरक बना दी है। 1980 के दशक में रीगन द्वारा मजदूर वर्ग पर हमले तथा कल्याणकारी राज्य को ध्वस्त करने के अभियान के बाद तो हालात बद् से बद्तर होते जा रहे हैं। अमरीका में न केवल अमीर और गरीब के बीच की खाई तेजी से बढ़ रही है बल्कि मजदूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता का जीवन स्तर निरपेक्ष तौर पर भी गिर रहा है। आबादी का नीचे का चालीस प्रतिशत हिस्सा लगातार कर्ज में डूबा हुआ है। इजारेदार पूंजीपतियों ने अपना माल बेचने के लिए पूरे समाज को ही कर्जखोर बना डाला है लेकिन इस कर्जखोरी की मार सबसे ज्यादा गरीब तबकों पर पड़ रही है।

अमरीका में आज एक भारी आबादी सड़कों पर रहती है। आबादी का काफी बड़ा हिस्सा खासकर गैर गोरे लोगों का बड़ा हिस्सा निम्न स्तरीय बस्तियों (घेट्टो) में रहता है जहां कंगाली, अपराध और नशाखोरी का बोलबाला है। आज अमेरिकी जेलों में दुनिया के किसी भी देश से ज्यादा लोगों को बन्द कर रखा गया है। यह संख्या लगभग 20 लाख है। सरकारी जेलें जब अपर्याप्त पड़ने लगीं तो अमरीकी सरकार ने निजी जेलखानों की व्यवस्था की। आज जितने काले नौजवान विश्वविद्यालयों में हैं उससे ज्यादा जेल में।

अमरीकी अर्थव्यवस्था की इस हालत को प्रतिबिम्बित करते हुये अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था भी दिनों-दिन और ज्यादा उत्पीड़क होती जा रही है। जैसे-जैसे जनता का शासन व्यवस्था से मोहभंग हो रहा है वैसे-वैसे व्यवस्था का उत्पीड़क चरित्र मजबूत होता जा रहा है। 1990 के दशक में पूरी दुनिया पर अपना वर्चस्व कायम करने के प्रयास में अमरीकी शासक वर्ग ने अपनी जनता पर न केवल शिकंजा कसा है बल्कि उसे और ज्यादा अमानवीय बनाया है। आज अमरीकी जनता का एक हिस्सा इराक और अफगानिस्तान पर अमरीकी बमबारी का आतिशबाजी की तरह मजा लेता है। यह अमरीकी मजदूर और मेहनतकश जनता पर अमरीकी इजारेदार पूंजीपति वर्ग के वैचारिक वर्चस्व की लाक्षणिक अभिव्यक्ति है।

इस वैचारिक वर्चस्व में अमरीका की पतनशील साम्राज्यवादी संस्कृति का भारी योगदान है। अमरीकी इजारेदार प्रचारतंत्र इस संस्कृति को अमरीकी जनता के अलावा बाकी दुनिया पर भी थोपने का प्रयास कर रहा है। आज तीसरी दुनिया के देश ही नहीं खुद यूरोपीय देश भी इस हालीवुड संस्कृति के आक्रमण के शिकार हैं। अमरीकी पूंजीपति वर्ग पूरी दुनिया पर अपने आर्थिक - राजनीतिक - सामरिक वर्चस्व के साथ-साथ सांस्कृतिक वर्चस्व के लिए भी प्रयास कर रहा है।

एक अकेले देश के तौर पर अमेरिका दुनिया की सबसे बड़ी आर्थिक शक्ति है। यह बाकियों से काफी आगे है। केवल सम्मिलित यूरोपीय यूनियन ही इसकी टक्कर का बैठता है। इसके अलावा अमरीका की सामरिक ताकत अति विशाल है। बाद के बाकी पांच देश मिलकर भी सेना पर उतना खर्च नहीं करते जितना अमरीका अकेले करता है। इन्हीं सबके कारण अमेरिका साम्राज्यवादी दुनिया का नेता बना हुआ है। हालांकि आज उसकी बाकी साम्राज्यवादी दुनिया पर वह प्रभुत्ववादी स्थिति नहीं है, जो 1950 व 60 के दशक में थी, फिर भी वह नेता के पद पर विराजमान है। सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के पतन के बाद तो वह और आक्रामक हुआ है और अपना वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास कर रहा है। इस प्रक्रिया में उसके यूरोप और जापान से अंतर्विरोध तीखे हुए हैं, खासकर आर्थिक क्षेत्र में।

आर्थिक क्षेत्र में अपनी मजबूती को बनाये रखने के लिए और यूरोपीय यूनियन तथा जापान का मुकाबला करने के लिए अमेरिका ने कनाडा और मैक्सिको को साथ लेकर अपना व्यापार गुट नाफ्टा बनाया है। इसके

अलावा भी वह दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में क्षेत्रीय संगठनों में सक्रिय है। 1990 के दशक में अमरीका ने कई जगह सामरिक कार्यवाहियां की हैं। इराक पर हमले से लेकर अफगानिस्तान तक इसके कई उदाहरण हैं। अमरीका की ये उद्धत और बेलगाम सैनिक कार्यवाहियां अमरीकी साम्राज्यवाद की वैश्विक पैमाने पर वर्चस्व स्थापित करने के प्रयास की द्योतक हैं। ये तीसरी दुनिया के खिलाफ लक्षित तो हैं ही, साथ ही बाकी साम्राज्यवादी दुनिया पर अपनी पकड़ बनाये रखने की कोशिश भी है। अमरीकी साम्राज्यवादी दुनिया में अपनी नेतृत्वकारी भूमिका नहीं खोना चाहते।

अमरीकी साम्राज्यवाद को अपने नेतृत्व के प्रति सबसे बड़ा खतरा यूरोपीय यूनियन से है। अलग-अलग देशों के रूप में यूरोप के देश अमरीका के सामने नहीं ठहरते। परन्तु एक साथ आने पर वे अमेरिका के बराबर की आर्थिक शक्ति बनते हैं। हालांकि इनकी सामरिक ताकत कम है तथा वे अमरीकी नेतृत्व वाले नाटो सैनिक गठबन्धन के सदस्य हैं तो भी इनके और अमरीका के बीच अंतरविरोध तीव्र होने पर यह गठबन्धन टूट सकता है और ये तेजी से सामरिक क्षमता बढ़ा भी सकते हैं। नाटो को लेकर इनके और अमरीका के बीच लगातार रस्साकशी चलती रहती है।

पश्चिमी यूरोपीय देशों में विद्यमान पूंजीवादी व्यवस्था की स्थिति भी मोटा-मोटी वही है जो अमेरिका की है। यूरोप में भी पिछले सालों में इजारेदार कम्पनियों के बीच भारी पैमाने पर विलय और अधिग्रहण हुये हैं तथा इजारेदार कम्पनियों की विशालता में तेज वृद्धि हुयी है।

रीस्ट्रक्चरिंग और डाउन साइजिंग की प्रक्रिया यूरोप में भी बड़े पैमाने पर चल रही है। सभी यूरोपीय इजारेदार कम्पनियां अमेरिका में रीगन द्वारा तय किये गये उत्पादकता के मापदण्ड का अनुसरण कर रही हैं। वे एक के बाद एक अपने मजदूरों को सड़क पर धकेल रही हैं।

फ्रांस और जर्मनी के नेतृत्व में पश्चिमी यूरोप के अधिकांश देशों ने यूरोपीय एकीकरण की जो प्रक्रिया शुरू की थी वह पिछले दशक भर में एक नयी ऊंचाई तक पहुंच गई है। एक जनवरी 2002 को यूरोपीय यूनियन में शामिल अधिकांश देशों ने नयी सांझा मुद्रा यूरो अपना ली। इस एकीकरण से यूरोपीय देशों की इजारेदार पूंजी को भारी फायदा हो रहा है। वह अपने मजदूर वर्ग और अमरीकी तथा जापानी पूंजी दोनों के खिलाफ शक्तिशाली होकर उभर रही है। इन देशों के मजदूर वर्ग के भारी विरोध के बावजूद यूरोपीय एकीकरण की यह प्रक्रिया कदम-दर-कदम बढ़ रही है।

पिछले दो दशकों में यूरोप के पूंजीपति वर्ग ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्थापित कल्याणकारी राज्य पर तीव्र प्रहार किये हैं। इस प्रहार की अग्रिम पांतों में इंग्लैण्ड की थैचर सरकार रही है और जन्म से मृत्यु तक सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने वाले स्कैंडेनेवियाई देश भी इससे अछूते नहीं बचे हैं। अमरीका की तरह यूरोप में भी मजदूर वर्ग और आम मेहनतकश की जिन्दगी लगातार बदहाल होती जा रही है।

समूचे 1990 के दशक में यूरोपीय देशों की विकास दर निम्न स्तर पर बनी रही है। इसके मुकाबले यहां बेरोजगारी की दर असहनीय सीमाओं को पार कर चुकी है। जहां पूरे यूरोपीय यूनियन में बेरोजगारी की औसत दर 10 प्रतिशत के आस-पास बनी रही वहीं कुछ देशों जैसे स्पेन में तो यह बीस प्रतिशत तक जा पहुंची। समूचा यूरोपीय यूनियन बेरोजगारी की भीषण समस्या से ग्रस्त है।

बढ़ती बेरोजगारी, कंगाली और गैर-बराबरी के बीच यूरोपीय समाजों का ताना-बाना संकट और तनाव का शिकार हो रहा है। यहां भी परिवारों के विखंडन, एकल माताओं तथा मरने के लिये छोड़ दिये गये बूढ़े लोगों और

अपराध तथा नशे की शिकार नौजवान पीढ़ी से समाज त्रस्त है। अमरीका की तरह यहां भी बिना किसी वजह के बच्चे स्कूलों में अपने सहपाठियों और अध्यापकों को गोलियों से भून रहे हैं।

यूरोप में सामाजिक संकट की सबसे तीखी अभिव्यक्ति अप्रवासी लोगों के प्रति बढ़ती घृणा तथा बढ़ते फासीवादी - नाजीवादी उन्माद में हो रही है। एशिया-अफ्रीका से भारी मात्रा में मजदूर उस काम को करने के लिए यूरोप पहुंच रहे हैं जिन्हें खुद वहां के लोग करना पसंद नहीं करते। अत्यन्त कम वेतन में घटिया काम की शर्तों पर घटिया काम करने वाले इन अप्रवासी मजदूरों के प्रति वहां के दक्षिणपंथी घृणा का माहौल पैदा कर रहे हैं। इस कारण इनके प्रति हिंसा की वारदातें बढ़ रही हैं तथा स्वयं इनके आने पर सरकारें पाबंदी लगा रही हैं। सारी दुनिया में पूंजी की बेरोक-टोक आवा-जाही की वकालत करने वाली इन देशों की सरकारें अपने यहां सबसे घटिया श्रम करने वाले मजदूरों के आगमन पर भी पाबंदी लगा रही हैं।

एशिया - अफ्रीका के अप्रवासियों का मुद्दा उठाकर तथा अन्य तरीकों से इन देशों में फासीवादी-नाजीवादी शक्तियां अपना प्रभाव बढ़ा रही हैं। आज ये लगभग सभी यूरोपीय देशों में छोटी-मोटी ताकत बनती हैं। आस्ट्रिया में तो ये मंत्रिमंडल तक पहुंचने में कामयाब हो गये थे। इटली से लेकर फ्रांस तक में ये प्रतिगामी शक्तियां क्रमशः बढ़ रही हैं।

इन प्रतिगामी शक्तियों के पैदा होने की जमीन शासक वर्गों की नीतियों और मजदूर आंदोलन की कमजोरी ने तैयार की है। इन देशों में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पूंजी और श्रम के बीच जो समझौता (compromise) हुआ था उसे शासक पूंजीपति वर्ग ने 1980 व 90 के दशक में तोड़ डाला। इस समझौते में मजदूर वर्ग का नेतृत्व किया था सामाजिक जनवादी पार्टियों या समाजवादी पार्टियों ने, जो द्वितीय इंटरनेशनल की मजदूरों से गद्दारी करने वाली पार्टियों की वारिस थीं। इन पार्टियों ने साथ ही शासक वर्ग की पार्टियों की दुहरी भूमिका भी निभाई। बाद में पतित हो गई कम्युनिस्ट पार्टियां भी इनके साथ थीं।

1980 व 90 के दशक में श्रम पर पूंजी के आक्रमण के समय इन पार्टियों ने मजदूर वर्ग का साथ छोड़ दिया और बेशर्मी के साथ पूंजीपति वर्ग के साथ हो गई। समझौता टूटने पर वे एक बार फिर पूंजीपति वर्ग के साथ पाई गई। सुधारवाद की यही परिणति होनी थी। आज यूरोप के सभी देशों में, इंग्लैंड से लेकर जर्मनी - फ्रांस तक, 'वामपंथियों' और दक्षिणपंथियों में कोई भेद नहीं रह गया है। एक सुधारवादी के रूप में भी सामाजिक जनवादियों, समाजवादियों का अस्तित्व खत्म हो गया है।

इन देशों में असली मजदूर पार्टियों और क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टियों का अभाव है। मजदूर आंदोलन बेहद कमजोर है। ऐसे में जो शून्य पैदा हुआ है उसे फासीवादी नाजीवादी आंदोलन भरने का प्रयास कर रहे हैं। वे भौतिक-आत्मिक दोनों संकटों का प्रतिक्रियावादी समाधान पेश कर रहे हैं।

हालांकि पिछले सालों में मजदूर आंदोलन में कुछ सुगबुगाहट हुयी है, लेकिन वह अभी बहुत आश्वस्तकारी नहीं है। पेरिस से लेकर मैड्रिड, रोम तक में मजदूरों ने लाखों की संख्या में विरोध प्रदर्शन किये हैं, लेकिन यह अभी इक्का-दुक्का और कभी-कभार हैं।

इस बीच शासक साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग अपने लूट के निजाम को पुख्ता करने में लगातार जुटा हुआ है। यूरोपीय शासक वर्ग के सामने अमरीकी और जापानी चुनौती लगातार मुंह बाये खड़ी है। यूरोप के सबसे शक्तिशाली देश जर्मनी के मुकाबले जापानी अर्थव्यवस्था दो गुनी बड़ी है तो अमरीकी अर्थव्यवस्था चार गुनी। ऐसे

में वे एक होकर इनका मुकाबला करना चाहते हैं। यूरोपीय यूनियन का एकीकरण इनका इस दिशा में हथियार है। लेकिन खुद इनके भीतर के अंतर्विरोध इस दिशा में बाधा बन रहे हैं।

इंग्लैण्ड एक लम्बे समय से यूरोप में अमरीका का एजेन्ट बना हुआ है। एक ओर यह यूरोपीय एकीकरण में एक अनिच्छुक (reluctant) सदस्य है तो दूसरी ओर अमरीका का उत्साही समर्थक। पिछले दशक में दुनिया भर में अमरीकी गुण्डागर्दी की कार्यवाहियों में इंग्लैण्ड हर कदम पर उत्साहपूर्वक अमरीका के साथ रहा है। वह आंतरिक मुद्रा के बतौर यूरो को फिलहाल स्वीकार नहीं कर रहा है।

फ्रांस और जर्मनी में यूरोपीय यूनियन के नेतृत्व को लेकर आपस में प्रतिद्वन्द्विता है। जर्मनी के एकीकरण के बाद जर्मनी की बढ़ती ताकत से फ्रांस परेशान है। जर्मनी भी अपनी बढ़ी हुयी ताकत को प्रदर्शित करने का कोई मौका नहीं छोड़ता। बाल्कन संकट में इसकी भूमिका इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

हालांकि यूरोप के देश खासकर फ्रांस व जर्मनी अपने संपूर्ण साम्राज्यवादी हितों की खातिर नाटो में बने हुये हैं, फिर भी नाटो में अमरीका से इनका तनाव प्रत्यक्ष है। जहां अमरीका की हरचन्द कोशिश नाटो को बनाये रखने की और अपने यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों को इसमें समेटे रहने की होती है, वहीं इनकी कोशिश अमेरिका से स्वतंत्र जाने की होती है। किसी समय पश्चिम यूरोपीय सेना का गठन इसी दिशा में प्रयास था।

जापान साम्राज्यवादी दुनिया का एक अन्य महत्वपूर्ण देश है। यह आज दुनिया की दूसरे नंबर की अर्थव्यवस्था है। 1990 के दशक की शुरूआत में तो जापानी इजारेदार कम्पनियां विश्व की इजारेदार कम्पनियों के शीर्ष पर पहुंच गई थीं। खासकर इसके भीमकाय बैंक बाकी देशों के बैंकों को काफी पीछे छोड़ गये थे।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से शुरू हुये पुनर्निर्माण के काल में जापानी अर्थव्यवस्था की विकास दर बहुत तेज, लगभग दस प्रतिशत के आस-पास रही। उसके बाद भी 1980 के दशक के अंत तक यह दर बाकी साम्राज्यवादी देशों की विकास दर से तेज थी। जापानी अर्थव्यवस्था की इसी विकास दर ने जापान के बारे में ढेरों मिथकों को जन्म दिया और खासकर जापानी उद्योग प्रबन्धन प्रणाली पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों में ईर्ष्या का पात्र बन गई। मजदूरों को जीवन भर स्थाई नौकरी की गारंटी, मजदूरों के जीवन के हर पल पर इजारेदार पूंजी का अधिकार तथा 'जस्ट इन टाइम डिलेवरी' के साथ यह प्रबन्धन प्रणाली पूंजीवादी संकटों का निदान मानी जाने लगी।

लेकिन जापानी मिथक का गुब्बारा तब पिचक गया जब जापानी अर्थव्यवस्था में बैंकों और सट्टेबाज पूंजी का 1990 के दशक के शुरू में दिवाला निकलने लगा। आकाश छूता जापानी शेयर बाजार तब नीचे आने लगा और आज वह धीमे-धीमे रसातल को पहुंच गया है। जापानी बैंकों पर भारी मात्रा में ऋण चढ़ा हुआ है और वे सरकार के भरोसे टिके हुए हैं। इनका दिवाला निकलते ही जापान और सारी दुनिया में अकथनीय तबाही मच जाएगी। पिछले सालों में जापान की दो सबसे बड़ी दलाल कम्पनियां दिवालिया हो चुकी हैं।

1990 के दशक में समूची साम्राज्यवादी दुनिया में सबसे ज्यादा खराब हालत जापान की ही रही है। 1992 में शुरू हुयी मंदी अभी तक लगातार जारी है। एकाध बार इस मंदी से उबरने के जो संकेत मिले वे भ्रामक साबित हुये। इस तरह जापान न खत्म होने वाली मंदी का शिकार है। शून्य के आस-पास बनी हुयी यह वृद्धि दर 1950 व 1960 के दशक की दस प्रतिशत विकास दर के ठीक विपरीत है। जापानी पूंजीपति वर्ग और सरकार के इस मंदी से उबरने के सारे प्रयास अभी तक निरर्थक साबित हुए हैं।

दशक भर से बनी हुयी इस मंदी ने कई क्षेत्रों में बाकी साम्राज्यवादियों के मुकाबले जापानी बढ़त को काफी पीछे धकेल दिया है। एक समय जापान आटोमोबाइल और इलैक्ट्रानिक्स उद्योग में बाकियों से आगे था। आज अमरीकी जापान को पीछे छोड़ चुके हैं। इसी तरह उत्पादकता की दौड़ में भी जापान पिछड़ गया है। इसके भीमकाय बहुराष्ट्रीय निगम अब दुनिया की सूची में खिसक कर नीचे जा रहे हैं। हालांकि जापानी बैंक अभी भी बैंकों की सूची में ऊपर हैं तथापि यही स्थिति बने रहने पर वे भी नीचे खिसकने को मजबूर होंगे।

दशक भर की इस मंदी ने जापानी प्रबन्धन प्रणाली के मिथक को भी फुसस कर दिया है। जीवन भर की नौकरी वाली जापानी प्रणाली अमरीकी 'रखो और निकालो' की प्रणाली के सामने फीकी पड़ गई है। अब जापानी कम्पनियां भी अधिकाधिक अमरीकी प्रणाली को अपना रही हैं। फलस्वरूप जापान में बेरोजगारी बढ़ रही है और यह अब पांच प्रतिशत तक जा पहुंची है। पूंजी और श्रम के बीच शास्त्रीय रिश्ता जापान में भी लौट आया है।

अपनी उत्पादकता बढ़ाने के चक्कर में जापानी पूंजीपति मजदूरों के श्रम के घंटे तथा काम की तीव्रता बढ़ा रहे हैं। मजदूरों पर और यहां तक कि इक्कीक्यूटिक्स पर काम का बोझ इतना बढ़ गया है कि वहां 'खरोशी' नामक बीमारी ही पैदा हो गई है। इसमें अत्यधिक श्रम करने के कारण स्वस्थ आदमी भी मर जाता है।

अर्थव्यवस्था के इस संकट ने जापान में भी तीखे सामाजिक संकटों को जन्म दिया है। वहां आत्महत्या करने वालों की संख्या बढ़ रही है। यहां तक कि आत्महत्या के तरीके सिखाने वाली एक पुस्तक पिछले दिनों बेस्ट सेलर की सूची में शामिल हो गयी थी।

इसके समानांतर राजनीतिक व्यवस्था भी लगातार संकटग्रस्त है। पुनर्निर्माण की समृद्धि के सालों में शासन करने वाली लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी एक के बाद एक संकटों से ग्रस्त है। एक के बाद एक सरकारें वहां बन और बिगड़ रही हैं। इस मामले में जापान इटली की बराबरी करने लगा है।

उद्योग और सरकार के बीच बेहद प्रगाढ़ रिश्तों वाला जापान आज भ्रष्टाचार का उसी तरह गढ़ बन गया है जैसे कभी उसे औद्योगिक दक्षता का गढ़ माना जाता था। इसके कई मंत्रियों और प्रधानमंत्रियों को भ्रष्टाचार के कारण गद्दी छोड़नी पड़ी है।

जापानी इजारेदार पूंजीपति वर्ग ने अमरीकी और यूरोपीय पूंजी के सामने टिकने के लिए दक्षिण पूर्व एशिया के एशिया-प्रशान्त रिम में अपनी पूंजी की घुसपैठ शुरू की है। हालांकि यह रिम परम्परागत रूप से अमरीकी पूंजी का गढ़ रहा है लेकिन धीमे-धीमे जापानी पूंजी ने इसमें प्रसार किया है और वह अब इसमें प्रभुत्वशाली स्थिति में आ गई है। यहां अमरीकी आर्थिक और खासकर सामरिक तौर पर मजबूती से जमे हुये हैं, तब भी जापानी उन्हें आर्थिक तौर पर क्रमशः प्रतिस्थापित कर रहे हैं।

जापान में छापी मंदी का जापान को प्रकारान्तर से एक लाभ हुआ है। आज जापान का व्यापार संतुलन बाकियों के खिलाफ बना हुआ है। अमरीका लगातार जापान के मुकाबले व्यापार घाटे का सामना कर रहा है। यही नहीं, आज जापानी बैंक और इजारेदार पूंजीपति दुनिया के सबसे बड़े कर्जदाता भी बन गये हैं। अमरीका के कर्ज का एक भारी हिस्सा जापानियों ने दिया है।

जापान में छापी इस मंदी ने जापान और यूरोपीय यूनियन तथा अमरीका के बीच व्यापार युद्ध को बहुत तेज कर दिया है। जापानी इजारेदार कम्पनियां बीसियों तरीकों से अमरीकी और यूरोपीय बाजारों में पैठ बनाने का प्रयास कर रही हैं।

दुनिया में दूसरे नम्बर की अर्थव्यवस्था होने के बावजूद जापान अभी अमरीकी सामरिक छत्र छाया में है। अमरीकी सैनिक जापान में मौजूद हैं। लेकिन तब भी जापान की सामरिक ताकत कम नहीं है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इस पर थोपी गई पाबंदियों के बावजूद जापान अपनी सामरिक ताकत पर काफी ज्यादा धन खर्च करता है। साम्राज्यवादियों के चरित्र के अनुरूप वे अपनी सामरिक ताकत को ज्यादा से ज्यादा मजबूत करने के मामले में कहीं से भी पीछे नहीं है।

कुल मिलाकर यही है आज की साम्राज्यवादी दुनिया की तस्वीर। अपनी इसी स्थिति में ये साम्राज्यवादी बाकी दुनिया यानि पूर्वी यूरोप और तीसरी दुनिया के देशों का अपने साथ आर्थिक एकीकरण कर रहे हैं—'वैश्वीकरण' के नाम पर और उन्हें लूटने-चूसने के लिए एक से एक जाल बिछा रहे हैं।

II. पूर्वी यूरोप व सोवियत संघ के भूतपूर्व समाजवादी देशों की आज की स्थिति

1989 में पूर्वी यूरोप में तथा 1991 में सोवियत संघ में ढके-मुंदे पूंजीवाद के स्थान पर खुले पूंजीवाद की स्थापना के एक दशक गुजरने के बाद भी इन देशों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय बनी हुयी है तथा साम्राज्यवादी प्रतिष्ठानों के चाकर बुद्धिजीवियों ने इनके लिए जिस सुनहले भविष्य की घोषणा की थी, उसका दूर-दूर तक कहीं पता नहीं है। उत्पादन का स्तर अभी भी ज्यादातर देशों में 1989 के पहले की स्थिति तक भी नहीं पहुंच पाया है, बेरोजगारी असह्य बनी हुयी है तथा आम जनता की जिन्दगी संकटों से घिरी हुयी है। पूंजीवादी नीम हकीमों के नुस्खे आजमाए जा चुके हैं तथा उनके झोले में कोई औषधि नहीं बची जिससे मरीज के ठीक हो जाने की कोई संभावना पैदा हो।

लगभग साढ़े तीन दशकों तक राजकीय इजारेदार पूंजीवाद की पीड़ा झेलने के पहले इन देशों का एक शानदार अतीत रहा था। इसके पहले सोवियत संघ लगभग चालीस साल तक सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत अपने यहां एक उन्नत समाजवादी व्यवस्था में रह चुका था तो पूर्वी यूरोप के देश लगभग एक दशक तक। परन्तु सोवियत संघ में खुश्चेव एण्ड कम्पनी के सत्तारूढ़ होने के बाद तथा खासकर सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस के बाद से इन देशों में धारा पलट गई तथा आधुनिक संशोधनवादियों के नेतृत्व में इन देशों में पूंजीवादी पुनर्स्थापना हो गई।

1917 में अक्टूबर समाजवादी क्रांति से दुनिया में एक नये युग का सूत्रपात करने वाले सोवियत संघ में लेनिन और स्टालिन के नेतृत्व में अकूत बलिदान और अद्वितीय साहस के साथ न केवल समाजवाद का निर्माण किया गया बल्कि सोवियत संघ के खिलाफ साम्राज्यवादियों द्वारा किये गये प्रत्येक आक्रमण व कुचक्र को कुचल दिया गया। सोवियत जनता ने समाजवाद के निर्माण के दौरान अद्भुत कार्य किए जिसे देखकर सारी दुनिया के लोगों ने दांतों तले अंगुलियां दबा लीं जबकि साम्राज्यवादी स्तब्ध रह गये। वे बौखला गये और फासीवादी आक्रमण तथा युद्ध के पश्चात् शीत युद्ध जैसा हथियार सोवियत संघ के खिलाफ प्रयोग करने में उन्होंने कोई कोर-कसर

नहीं छोड़ी। पर सब बेसूद। सोवियत संघ समाजवाद के रास्ते पर आगे बढ़ता ही रहा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तो एक पूरा समाजवादी खेमा ही अस्तित्व में आ गया। स्पष्टतः ही साम्राज्यवादियों की हैरानी-परेशानी की कोई सीमा नहीं थी।

परन्तु सोवियत समाजवाद में सब कुछ ठीक-ठाक नहीं था। समाजवाद का निर्माण करने वाला सोवियत संघ पहला देश था। इस कारण यहां समाजवाद का निर्माण करते वक्त कुछ गलतियां होनी ही थीं। उनसे बचा नहीं जा सकता था क्योंकि सीखने और सावधान रहने के लिए पहले का कोई अनुभव नहीं था। यहां तो अपनी ही गलतियों से सीखना था।

लेकिन कुछ ऐसी भी गलतियां थीं जिनसे बचा जा सकता था। इन गलतियों और इनके आधारों का सांगोपांग विश्लेषण माओ-त्से-तुंग ने किया। इसी विश्लेषण के आधार पर माओ ने यह कहा कि अपनी सारी गलतियों और कमियों के बावजूद स्टालिन एक महान मार्क्सवादी - लेनिनवादी थे जिन्होंने सोवियत संघ में समाजवाद का निर्माण करने में नेतृत्व प्रदान किया तथा शत्रुओं से उसकी हिफाजत की।

स्टालिन से जो मूलभूत चूक हुयी वही बाद में वहां पूंजीवादी पुनर्स्थापना का एक मुख्य कारण बनी। सोवियत संघ में उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व खत्म कर दिये जाने तथा उसके स्थान पर राजकीय या सामूहिक मालिकाना लागू कर दिये जाने के बाद स्टालिन ने मान लिया कि सोवियत संघ में अब वर्ग-संघर्ष समाप्त हो गया है। उन्होंने घोषित कर दिया कि सोवियत समाजवाद को खतरा अब केवल बाहरी पूंजीवादी शक्तियों से है क्योंकि देश के भीतर शत्रु वर्ग समाप्त हो गये हैं।

जैसा कि माओ ने बाद में विश्लेषण करके बताया वास्तविक स्थिति ऐसी कतई नहीं थी। किसी देश में समाजवाद का निर्माण हो जाने के बाद भी वर्ग बचे रहते हैं और वर्ग संघर्ष बना रहता है। इसका कारण न केवल अधिरचना में मौजूद पुरानी आदतें, व्यवहार, विचार और मूल्य-मान्यताएं होती हैं बल्कि खुद आधार में भी ऐसी चीजें होती हैं जो पूंजीवादी तत्वों और विचारों को जन्म देती रहती हैं। जब तक माल और मुद्रा का किन्हीं भी रूपों में अस्तित्व मौजूद रहता है, जब तक शारीरिक व मानसिक श्रम, शहर और देहात में भेद बना रहता है, जब तक 'योग्यता अनुसार श्रम और श्रम के अनुसार उपभोग' का बुर्जुआ अधिकार बना रहता है तब तक आधार में मौजूद ये पूंजीवादी तत्व पूंजीवादी व्यक्तियों और विचारों को जन्म देते रहेंगे तथा तब तक इन पर चलने वालों द्वारा पूंजीवादी पुनर्स्थापना का खतरा बना रहेगा। और तब तक इनके खात्मे के लिए और पूरी अधिरचना के लगातार कम्युनिज्म की ओर विकास के लिए महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति जैसी क्रांतियों की श्रृंखला की आवश्यकता बनी रहेगी। केवल एक बहुत लम्बे समय बाद ही और कई पीढ़ियां गुजर जाने के बाद ही अति उत्पादन के स्तर को प्राप्त कर लेने के बाद और सभी वर्गों और उसके आधारों की पूर्णतया समाप्ति के बाद ही यानि वर्ग विहीन साम्यवादी समाज की स्थापना के बाद ही इस खतरे से मुक्त हुआ जा सकता है।

स्तालिन इस बात को नहीं देख पाये। और शायद एक पूरी क्रांति के विपर्यय के बिना इसको देखा भी नहीं जा सकता था। जो भी हो, स्तालिन द्वारा घोषित कर दिए जाने के बाद कि सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष समाप्त हो गया है उनकी नाक के ठीक नीचे पूंजीवादी तत्व पैदा होते रहे और बड़े होते रहे। इनमें जिन्होंने भी अपना पूंजीवादी आचरण थोड़ा भी प्रदर्शित करने की कोशिश की उन्हें स्तालिन ने अपने सर्वहारा सहजबोध के चलते तुरंत ही नेस्तनाबूद कर दिया परन्तु वे इन तत्वों को पैदा करने वाली गहराई में पैठी जड़ों को नहीं उखाड़ पाये।

परिणाम स्वरूप ऐसे पैदा हुए ढेरों तत्व उनके जिंदा रहते दम साधे चुपचाप बैठे रहे और उनके मरने के तुरंत बाद वे अपने कोनों-अतरों से निकल आये तथा पार्टी और सरकार पर कब्जा कर उन्होंने सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना कर दी। सर्वहारा के अधिनायकत्व वाला राज्य पूंजीपतियों के अधिनायकत्व वाले राज्य में बदल दिया गया।

पूर्वी यूरोप के देशों ने भी पूंजीवादी पुनर्स्थापना के इसी सोवियत मार्ग का अनुसरण किया—अल्बानिया को छोड़कर। पूर्वी यूरोप के इन देशों में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जनता के जनवादी राज्य कायम हुये थे तथा इनमें समाजवादी समाज अभी बहुत नया था। अभी इन समाजों में समाजवादी व्यवस्था सुदृढ़ीकृत होने की अवस्था में ही थी। दूसरे, अल्बानिया को छोड़कर ये सारे-के-सारे सोवियत संघ और सोवियत पार्टी पर बहुत ज्यादा निर्भर थे। ऐसे में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी पर जब संशोधनवादियों ने कब्जा कर लिया तथा वहां पूंजीवाद की पुनर्स्थापना कर दी तो इन देशों की पार्टियों का उसी रास्ते पर चल पड़ना कोई बहुत आश्चर्यजनक बात नहीं थी। इन पार्टियों ने भी खुश्चेवी संशोधनवाद को अपना लिया तथा अपने यहां पूंजीवाद की पुनर्स्थापना कर दी। अल्बानिया भी बाद में उसी रास्ते पर चल पड़ा। युगोस्लाविया तो 1948 में ही टीटो के नेतृत्व में साम्राज्यवादियों की मातहत स्वीकार कर चुका था।

आज, लगभग पचास साल बाद, पश्च दृष्टि की सुविधा से देखें तो इन देशों की क्रांतियों और इनमें हुए समाजवादी निर्माण पर आश्चर्य होता है। इन क्रांतियों के खिलाफ कितनी अपार बाधाएं खड़ी थीं। चारों ओर कितने मगरमच्छों-घड़ियालों से घिरी थीं ये क्रांतियां। एक ओर पिछड़ी उत्पादक शक्तियों वाले रूस में समाजवादी क्रांति थी और दूसरी ओर दुनिया के सारे साम्राज्यवादी और बाकी दुनिया पर उनका कब्जा। गृह युद्ध के समय रूसी क्रांति अकेली थी तथा उसके खिलाफ कई राक्षसी शक्तियाँ खड़ी थीं। उसके बाद अपने अकेले के दम पर, साम्राज्यवादियों की सारी साजिशों को झेलते हुए वहां समाजवाद का निर्माण किया गया, जिसमें भीतरघातियों, कायरों, कठिनाइयों से घबराकर पलायन करने वालों की कमी नहीं थी। उसके बाद फासीवादी आक्रमण और अपने दस प्रतिशत यानि दो करोड़ लोगों के बलिदान के बल पर अपनी रक्षा की गई। आज कोई चाहे तो इस समाजवादी निर्माण में बीसों खोट निकाल सकता है, बीसों छेद देख सकता है पर जिन भयानक कठिनाइयों से लड़कर इसे हासिल किया गया था उन्हें नजरअंदाज कर ही वह ऐसा कर सकता है। और ऐसा व्यक्ति केवल इतिहास का छिद्रान्वेषी ही हो सकता है, इतिहास निर्माता नहीं।

आज ये क्रांतियां और समाजवादी समाज इतिहास में विलीन हो चुके हैं पर इतिहास को आगे धक्का देने में उनकी भूमिका को कोई नहीं नकार सकता। इन क्रांतियों के बिना दुनिया हरगिज वहां नहीं होती, जहां वह आज है।

ये क्रांतियां आने वाली समाजवादी क्रांतियों की आंधी की पूर्व पीठिका थीं। ये इतिहास के एक दौर में पैदा हुईं और विलीन हो गईं लेकिन वे अपने पीछे अनुभवों और उनसे आसवित क्रांतिकारी सिद्धान्तों का विपुल भंडार छोड़ गईं जिसके कारण भविष्य में समाजवादी निर्माण कहीं ज्यादा आसान होगा तथा कहीं ज्यादा उसमें गलतियों से बचा जा सकेगा। इन्होंने समाजवाद की जो पहली फसल पैदा की वह बहुत अच्छी नहीं थी और बाद में नष्ट भी हो गई पर इन्होंने जमीन की जो सफाई की उसने आने वाली क्रांतियों के लिए जमीन काफी उर्वर बना दी है। इतिहास को हमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखना चाहिए। इस दृष्टिकोण से ये क्रांतियां और समाज निश्चय ही मानव सभ्यता में मील के पत्थर हैं, ऐसे मील के पत्थर जिससे एक नये युग के आगमन का संकेत मिलता है।

यह युग चाहे जितने ही समय बाद आये, चाहे कितनी ही असफलताओं के बाद आये लेकिन तब भी यह सच स्थापित रहेगा कि उसकी ओर प्रारंभिक कदम इन्हीं क्रांतियों और समाजों ने बढ़ाये थे। इनकी कमियों/खामियों के आधार पर इस सच को धुंधला करने का प्रयास केवल सर्वहारा हितों से किनारा या गद्दारी कर गये लोग ही कर सकते हैं।

सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के इन देशों में पूंजीवादी पुनर्स्थापना के बाद जो व्यवस्था कायम हुयी वह राजकीय इजारेदार पूंजीवादी व्यवस्था थी। इन देशों का पूंजीपति वर्ग सर्वहारा सत्ता को उखाड़ फेंक कर सत्तानशीन नहीं हुआ था बल्कि समाजवादी समाज के भीतर पैदा हुए नये पूंजीपति वर्ग ने चुपके-चुपके सत्ता पर कब्जा किया था और फिर इस सत्ता को अपने हितों की सेवा में लगाया था। इसीलिए इसके लिए यह जरूरी था वह समाजवाद के साइनबोर्ड को लगाये रखे तथा अन्य ढेरों समाजवादी संस्थाओं को बनाए रखे। बस उसका सारतत्व बदल दे। उनका सर्वहारा तत्व निकाल कर उनमें पूंजीवादी तत्व भर दे। स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी से लेकर राज्य और समाज की सारी संस्थाओं के साथ यही किया गया। उन्हें सर्वहारा सारतत्व से विहीन कर उनमें पूंजीवादी सारतत्व भर दिया गया। ऊपरी तौर पर चीजें वही बनी रहीं, पर सारतत्व में वे सभी पूंजीवादी बन चुकी थीं। सम्पत्ति के मालिकाने तक में यही बात सच थी।

ऐसा नहीं है कि नयी चीजें बिल्कुल नहीं की गईं। वे की गईं। निजी सम्पत्ति को सभी देशों में इस या उस हद तक छूट मिली। बढ़ते पूंजीवाद की जरूरतों के मुताबिक कुछ नयी संस्थाएं खड़ी की गईं। उसके लिए पश्चिम के पूंजीवाद से काफी कुछ 'सीखा' गया। लेकिन तब भी रूप काफी कुछ समाजवादी बना रहा जबकि अंतर्वस्तु ज्यादा से ज्यादा पूंजीवादी होती चली गईं। रूप की इस निरंतरता ने वहां के सर्वहारा वर्ग और आम जनता को काफी दिनों तक समाजवाद के भ्रम में डाले रखा। नये शासकों ने रूप को इसीलिए बचा भी रखा था।

इसी बीच पूंजीवाद के विस्तार के साथ पूंजीपति वर्ग फला - फूला और समाज के हर सत्ता स्थल और प्रभावशाली जगह पर काबिज हो गया। यह पूंजीपति वर्ग समाज के प्रबन्ध व शासन के शीर्ष लोगों तथा सुविधा प्राप्त हिस्सों से पैदा हुआ। इनमें थे पार्टी के विभिन्न संस्तरों के पदाधिकारी, सरकार के विभिन्न पदों पर बैठे अधिकारी, औद्योगिक, कृषि व अन्य व्यावसायिक संस्थानों के प्रबन्धक, बड़े वैज्ञानिक, तकनीशियन, विद्वान, कलाकार, साहित्यकार तथा अन्य सुविधा प्राप्त लोग। ये सारे समाजवादी समाज में महत्वपूर्ण जगहों पर विराजमान थे और सत्ता परिवर्तन के बाद नये पूंजीवादी समाज के स्तंभ, कर्ता-धर्ता तथा मुख्य चालक शक्ति बन गये।

हालांकि इन देशों के शासक पूंजीपति वर्ग की यह मजबूरी थी कि वह समाजवाद का लबादा ओढ़े रखे तथा 1960 के दशक के उत्तरार्ध में सोवियत संघ के सामाजिक साम्राज्यवाद में रूपान्तरण के बाद सोवियत खेमे का पश्चिमी साम्राज्यवादी खेमे से लगातार तीखा अंतर्विरोध भी बना रहा, पर एक बार पूंजीवाद का रास्ता अपना लेने के बाद इनके लिए यह आवश्यक हो गया कि पश्चिमी साम्राज्यवाद द्वारा नियंत्रित पूंजीवादी विश्व से वे अपने अलगाव को क्रमशः तोड़ें तथा उसके साथ एकाकार हों। अपने यहां पूंजीवाद की स्थापना के बाद विश्व पूंजीवाद के केन्द्र से अपने आप को दूर रखना उनके लिए बहुत ज्यादा संभव नहीं था।

इस दौरान इन समाजों का मुख्य अंतर्विरोध, समाजवादी रूप और पूंजीवादी अंतर्वस्तु का अंतर्विरोध लगातार तीखा होता चला गया। इस संकट के बढ़ने के साथ इन सभी देशों ने एक या दूसरी हद तक विश्व पूंजीवादी व्यवस्था से अपने सम्बन्ध कायम किए। युगोस्लाविया तो पहले ही विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का अंग बन चुका था। सोवियत खेमे के रोमानिया ने भी लगातार बढ़ते पैमाने पर यही किया। साम्राज्यवादी संस्थाओं व बैंकों

से कर्ज लेने और चुकाने में तो यह इतना 'कुशल' था कि एक लम्बे समय तक वह इन संस्थाओं का प्रिय देश बना रहा। बाद का खलनायक चेसस्कू तब इनका नायक था, एक ऐसा नायक जो सोवियत खेमे से अपनी स्वतंत्रता दिखाने की हिम्मत करता था। सोवियत संघ समेत बाकी देश भी इसी तरह विश्व पूंजीवादी व्यवस्था से सम्बद्ध होते गये। हालांकि इन देशों की सरकारों ने अपने समाजवादी लबादे को बचाये रखने के लिए इस एकीकरण को अपनी और दुनिया की जनता की निगाहों से काफी कुछ छिपाये रखा लेकिन उनका यह कृत्य उन्हें विश्व पूंजीवाद के संकटों से नहीं बचा सका। विश्व पूंजीवाद के हर संकट, सीमित हद तक ही सही, इन्हें प्रभावित करते रहे और इनके अपने रूप व अंतर्वस्तु के अंतर्विरोध को तीखा बनाते रहे।

इन देशों का रूप व अंतर्वस्तु का अंतर्विरोध तीखा होता रहा और 1980 के दशक में इसने इन समाजों को तीव्र संकट में डाल दिया। गोर्बाचोव ने सत्ता में आते ही पश्चिम से तनाव शैथिल्य, ग्लासनोस्त व पेरेस्त्रोइका का जो राग अलापना शुरू किया वह इसी संकट का परिणाम था। ये समाज तब तक ठहराव के शिकार हो चुके थे और फासीवादी माहौल से मजदूर वर्ग व आम जनता का दम घुट रहा था। समाजवाद के नाम पर उनका जो शोषण, उत्पीड़न हो रहा था, उससे वे बेहद क्षुब्ध थे। दूसरी ओर यह भी सच है कि सोवियत खेमे को परास्त करने के लिए और इनको अपनी पूंजी के खुले कब्जे में लाने के लिए पश्चिमी पूंजीवादी तंत्र खुले पूंजीवाद और जनतंत्र का जो जबर्दस्त प्रचार कर रहा था, कुछ लोग उससे भी प्रभावित हो रहे थे।

लेकिन सबसे बड़ी बात तो यह है कि पिछले तीन, साढ़े तीन दशकों के ढंके-मुंदे पूंजीवादी विकास के फलस्वरूप जो पूंजीपति वर्ग विकसित हो गया था - नामेन्क्लतूरा-वह अब अपने और विकास के लिए समाजवाद के लबादे को बाधक पा रहा था। 'समाजवादी' रूप अब पूंजीवादी अंतर्वस्तु के लिए घुटन पैदा कर रहा था। ऐसे में यह पूंजीपति वर्ग चाहता था कि समाजवादी लबादे को फेंक दिया जाय और खुला पूंजीवाद अपना लिया जाय। गोर्बाचोव और एल्सिन इसी वर्ग के प्रतिनिधि थे। उनमें बस इस प्रक्रिया की गति और तरीके को लेकर आपस में मतभेद था।

1989-91 में पूर्वी यूरोप व सोवियत संघ में जो कुछ हुआ वह न तो क्रांति थी और न ही प्रतिक्रांति। वह तो महज वह विस्फोट मात्र थी जिससे 'समाजवादी' रूप और पूंजीवादी अंतर्वस्तु का बढ़ता हुआ अंतर्विरोध एक झटके से हल हो गया। अब रूप भी पूंजीवादी अंतर्वस्तु के अनुरूप खुला पूंजीवादी हो गया। इन देशों में ढंके-मुंदे पूंजीवादी के बदले खुले पूंजीवाद की स्थापना हो गई। (आज चीन, वियतनाम व क्यूबा में भी रूप व अंतर्वस्तु का यह अंतर्विरोध खुद शासक कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा कदम-दर-कदम हल किया जा रहा है, रूप को अंतर्वस्तु के अनुरूप बनाया जा रहा है। ऐसा करके हो सकता है वे उस विस्फोट से बच जायें जो पूर्वी यूरोप व सोवियत संघ में हुआ।)

इस विस्फोट के बाद, 'समाजवादी' रूप और पूंजीवादी अंतर्वस्तु के इस अंतर्विरोध के समाधान के बाद इन देशों में जो वर्ग सत्ता में आया, वह वही पुराना वर्ग था, जो सत्तानशील था। बल्कि कुछ ऊपरी लोगों को छोड़कर सारे के सारे लोग वही थे। गोर्बाचोव को हटाकर एल्सिन काबिज हो गया तो चेसस्कू को हटाकर इयस्कू। बाद में जब उद्यमों का निजीकरण शुरू हुआ तो उद्यमों के निदेशक और प्रबन्धक ही अब उसके निजी मालिक हो गये। कम्युनिस्ट पार्टियों के बिखरने के बाद जितनी पार्टियां बनीं उनके सारे नेता पहले कम्युनिस्ट पार्टी के पदाधिकारी या अन्य प्रभावशाली लोग थे। कुल मिलाकर यह कि पुराने पूंजीपति वर्ग और उसके तत्वों की निरंतरता बनी रही।

यह सच है कि सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप का यह विस्फोट इनके अपने रूप और अंतर्वस्तु के अंतर्विरोध से पैदा हुआ था। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि इसमें पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने भी अपनी भूमिका निभाई। उन्होंने विश्व पूंजीवाद में इनके सीमित एकीकरण का लाभ उठाकर इनकी अर्थव्यवस्थाओं को निचोड़ने और उन पर प्रहार करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। बाद में जब अंतर्विरोध बहुत तीखा हो गया तो राजनीतिक संकटों में इन्होंने प्रत्यक्ष भूमिका निभाई। अब यह गोपनीय बात नहीं रह गई है कि चेसस्कू को सत्ताच्युत करने और उसका खात्मा करवाने में गोर्बाचोव सरकार और अमरीकी सरकार ने प्रत्यक्ष भूमिका निभाई थी। यह इसलिए हुआ कि चेसस्कू अपेक्षाकृत स्थाई साबित हो रहा था और जनांदोलन उसे उखाड़ नहीं पा रहे थे। तब अमरीकी साम्राज्यवादियों और उनके सहयोगी गोर्बाचोव को यह काम अपने हाथ में लेना पड़ा।

1989-91 की इन घटनाओं के बारे में, जिन्होंने उसके बाद पूरी दुनिया के शक्ति समीकरणों को बदल दिया, एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इनके बारे में किसी ने भविष्यवाणी नहीं की थी। साम्राज्यवादियों सहित किसी ने भी यह आशंका नहीं जाहिर की थी कि ये राज पूंजीवादी इजारेदार सत्ताएं इस तरह ध्वस्त हो जायंगी। सभी को ये सत्ताएं पर्याप्त शक्तिशाली और स्थाई नजर आ रही थीं, खुद उनको ध्वस्त करने में लगी सर्वशक्तिशाली, सर्वज्ञानी सी. आई. ए. को भी। इसी कारण इसके आधार पर किये गये समस्त आकलन बाद में गलत साबित हो गये।

हम लोगों ने भी 1987 के अपने एकता दस्तावेज में 'अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति का आकलन' के तहत इसका जो मूल्यांकन किया था, वह गलत साबित हुआ। इसी के आधार पर साम्राज्यवाद और पूरी दुनिया के बीच शक्ति संतुलन के बारे में जो मूल्यांकन किया गया था वह भी कुछ हद तक गलत साबित हुआ हालांकि मूल दिशा का मूल्यांकन सही था।

मूल्यांकन की इस गलती का कारण यह था कि इन देशों की वस्तुस्थिति के बारे में तथ्यों का अभाव था। इन देशों के संशोधनवादी शासक और पश्चिमी साम्राज्यवादी दोनों ही अपने-अपने हितों के कारण इन देशों के बारे में बाकी दुनिया को सच्चाई नहीं बता रहे थे। इन देशों को 'समाजवादी' साबित करना इन दोनों के ही हित में था। विश्व पूंजीवादी व्यवस्था से इनके एकीकरण और तद्जन्य संकट को छिपाने में इन दोनों का ही हित था।

इसके बावजूद इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि हमारे उपरोक्त मूल्यांकन में 'समाजवादी' रूप और पूंजीवादी अंतर्वस्तु के अवश्यंभावी तौर पर लगातार तीखे होते जाने और अंततः इसके विस्फोटक बिन्दु पर पहुंच जाने को न देख पाने की गलती हुयी। यही नहीं हमारे मूल्यांकन में इन देशों में विद्यमान 'समाजवादी' रूपों की सकारात्मकता को काफी बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया। यह नहीं देखा गया कि ये समाजवादी रूप पूंजी के द्वारा अवश्यंभावी तौर पर खोखले बना दिये गये होंगे और पूंजी ने उनको बेइंतहा भ्रष्ट कर दिया होगा।

रूप और अंतर्वस्तु के इस अंतर्विरोध के हल हो जाने के बाद, इन देशों में खुले पूंजीवाद की स्थापना के बाद पूरी अर्थव्यवस्था की पुनर्संरचना का जो कार्यक्रम चला उसने इन देशों की समस्याओं को हल नहीं किया, इनको संकट से उबारा नहीं बल्कि उनको और ज्यादा संकटों के दलदल में ढकेल दिया।

इन देशों में राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में तथा अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में खुले पूंजीवाद की स्थापना करना जितना आसान था, अर्थव्यवस्था के मूल भूत हिस्से को पुनर्संयोजित करना उतना ही मुश्किल साबित हुआ। एक दशक बाद भी यह प्रक्रिया चल रही है।

साम्राज्यवादियों और उनकी अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं द्वारा शल्य क्रिया (शॉक थिरैपी) से लेकर धीमे चलो तक के सभी नुस्खे इन देशों में आजमाये जा चुके हैं लेकिन अभी भी इनकी ज्यादातर अर्थव्यवस्थाएं स्थायित्व ग्रहण करने की प्रक्रिया से गुजर रही हैं। पूर्वी जर्मनी (जिसे पश्चिमी जर्मनी ने आत्मसात कर लिया) हंगरी, पोलैंड, चेक व स्लोवाकिया जैसे चन्द देश ही हैं जो एक हद तक स्थायित्व ग्रहण कर पाये हैं। बाकी की स्थिति डांवाडोल बनी हुयी है।

बड़े-बड़े पूंजीपतियों के अभाव में इन देशों के विशाल औद्योगिक और कृषि उद्यमों का निजीकरण न केवल एक बड़ी समस्या बना रहा है अपितु इनकी अर्थव्यवस्थाओं पर एक तरह से पश्चिमी इजारेदार पूंजी और उसके सहयोगी माफिया गुण्डा गिरोह का प्रभुत्व हो गया है। मुद्रा, शेयर बाजार इत्यादि संस्थान ठीक से काम कर सकें इसके बदले लूटती खसोटती साम्राज्यवादी पूंजी और अपराधी तत्व इस पर हावी होते जा रहे हैं। वैसे साम्राज्यवाद के वर्तमान पतनशील दौर में इससे भिन्न रूपान्तरण की आशा नहीं की जा सकती। समाजवादी निर्माण के दौरान खुले पूंजीवाद का खात्मा जितनी शानदार चीज थी, आज खुले पूंजीवाद की स्थापना उतनी ही घृणित। और यह घृणित है खुद पूंजीवाद के अपने ही मापदंडों पर।

खुले पूंजीवाद की यह स्थापना जनता के लिए अकथनीय मुसीबतों का बायस बनी हुयी है। उत्पादन में तीखी गिरावट से तथा उद्यमों की पुनर्संरचना से श्रमिक आबादी का एक भारी हिस्सा बेरोजगार हो गया है। उनकी सुरक्षा का कोई इंतजाम नहीं है। खुद काम पर लगे हुये श्रमिकों को तंखाहें नहीं मिल रही हैं, उनकी वास्तविक मजदूरी बहुत घट गयी है और जीवन स्तर में तीव्र गिरावट आयी है। बूढ़े-बच्चों और औरतों की शामत आ गई है। भविष्यहीन नौजवान पीढ़ी अपराध-नशे की दुनिया में भटक रही है। वेश्यावृत्ति से लेकर हत्याओं तक की बाढ़ आ गई है। पश्चिमी पूंजीवाद के स्वर्ग के बदले इन देशों के सर्वहारा और मेहनतकश जनता को केवल उसका नर्क ही नसीब हुआ। वह अपने 'नामेन्कलतूरा' और साम्राज्यवादियों द्वारा बेहद छली गई।

अर्थव्यवस्था की हालत को ही अभिव्यक्ति देता हुआ इन देशों का राजनीतिक परिदृश्य अस्थिरता और उठा-पटक का नमूना बना हुआ है। मुसीबतों की मारी हुयी जनता कभी एक को चुनती है तो कभी दूसरे को। वह कभी एक को लात मारती है तो कभी दूसरे को। जनता की बढ़ती मुसीबतों के कारण खुले पूंजीवाद के शुरूआती झंडाबरदार अब इन सारे देशों में किनारे लगा दिये गये हैं और इनकी जगह उन लोगों ने ले ली है जो अपने को समाजवादी, सामाजिक जनवादी, कम्युनिस्ट इत्यादि नामों से विभूषित करते हैं। ये भी खुले पूंजीवाद के समर्थक हैं। बस ये थोड़ा मुलम्मा लगाये रखना चाहते हैं जिससे जनता कड़वी गोली निगल सके। इनका फिर सत्तानशील होना जनता की पुराने सुरक्षित जीवन की ओर लौटने की आकांक्षा का भी द्योतक है। इस प्रक्रिया को सबसे अच्छी तरह अभिव्यक्त किया पोलैण्ड ने जिसमें खुले पूंजीवाद के नायक लेक वालेसा दूसरे चुनाव में हार गये और उनकी पार्टी की आज संसद में एक भी सीट नहीं है।

आर्थिक राजनीतिक संकटों के चलते समाज में भी प्रतिगामी प्रवृत्तियां हावी हुयीं हैं। इन देशों में पतनशील साम्राज्यवादी संस्कृति ने बहुत तेजी से अपने जड़ें जमायी हैं। सामान्य धार्मिकता ही नहीं धार्मिक कट्टरपन भी इन देशों में तेजी से बढ़ा है। बेरोजगार होकर श्रमिक औरतें घर में लौटी हैं और आर्थिक विपन्नता के साथ पुरुषों द्वारा उत्पीड़न को बढ़ते पैमाने पर झेल रही हैं। यहां की औरतें वेश्यावृत्ति के लिए साम्राज्यवादी देशों में बेची जा रही हैं। बूढ़े लोग मरने के लिए त्यागे जा रहे हैं। यहां तक कि जन्म दर भी तेजी से घट गई है। औसत आयु में भी तेज गिरावट आयी है। कुल मिलाकर ये देश चौतरफा संकट के शिकार हैं।

इन संकटों की एक और अभिव्यक्ति कई देशों में राष्ट्रीयता की समस्या का नये सिरे से पैदा हो जाना है। खासकर सोवियत संघ और युगोस्लाविया के मामले में इस समस्या ने अत्यंत गंभीर रूप धारण कर लिया और ये दोनों ही संघ बिखर गये। यही नहीं, घटक राष्ट्रों के पृथक हो जाने के बाद मामला रूका नहीं और राष्ट्रों के भीतर की राष्ट्रीयताओं ने अपनी पृथक्कता के लिए आंदोलन छेड़ दिया। समाजवाद ने राष्ट्रीयता की समस्या का एक सही समाधान ढूंढा था—राष्ट्रों के संघ और विभिन्न स्तर की स्वायत्तता। लेकिन समाजवाद की समाप्ति और पूंजीवादी पुनर्स्थापना के बाद राष्ट्रीयता की समस्या का यही समाधान कमजोर और पिछड़ी राष्ट्रीयताओं के शोषण-उत्पीड़न का साधन बन गया। राजकीय पूंजीवाद के दायरे में यह संघ किसी तरह घिसटता रहा लेकिन खुले पूंजीवाद की स्थापना के साथ संघ बिखर गये। निश्चित तौर पर इस विघटन और उसके बाद भी जारी राष्ट्रीयताओं की समस्याओं में पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने अपना भरपूर योगदान दिया, लेकिन मूल समस्या फिर भी आंतरिक गति के चलते ही थी। पुराने संघों के इस विखंडन ने साम्राज्यवाद द्वारा पृथक देशों और राष्ट्रों को अपने चंगुल में समेटना काफी आसान बना दिया।

खुले पूंजीवाद की स्थापना के बाद से इन देशों पर पश्चिमी साम्राज्यवादियों का प्रभुत्व काफी ज्यादा बढ़ा है। न केवल ये देश विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में पूरी तरह समेट लिए गये बल्कि इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर पश्चिमी साम्राज्यवादी पूंजी ने अपनी गुंजलक मजबूत कर ली है। एक लम्बे समय से पश्चिमी साम्राज्यवादी इसके लिए प्रयासरत थे। शीत युद्ध में बाद का दौर पश्चिमी साम्राज्यवादियों के इसी प्रयास का दौर था। इस दौर में पश्चिमी साम्राज्यवादी न केवल सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद की प्रतिद्वन्दिता को समाप्त कर देना चाहते थे बल्कि वे समूचे सोवियत खेमे के बाजार और पूंजी निवेश पर भी आंखे गड़ाये बैठे थे। इन देशों की व्यवस्थाओं के खिलाफ सारा प्रचार और इस खेमे को ध्वस्त कर देने की सारी राजनीतिक-सामरिक चालें इसी के लिए थीं। इस की अंतिम कड़ी 1980 के दशक में अमरीकी साम्राज्यवादियों द्वारा सोवियत साम्राज्यवादियों को शस्त्रों की दौड़ में खुली चुनौती थी। हालांकि इस दौड़ में स्वयं अमरीकी साम्राज्यवादी ध्वस्त होते-होते बाल-बाल बचे लेकिन उन्होंने सोवियत खेमे को ध्वस्त कर ही दिया।

इसके बाद का काल पश्चिमी साम्राज्यवादियों द्वारा फल बटोरने का है। पश्चिमी जर्मनी को सबसे बड़ा उपहार मिला पूर्वी जर्मनी के रूप में। उसे डकार कर भी उसकी तृप्ति नहीं हुयी और उसने बाकियों पर भी अपनी नजर गड़ाई। यूगोस्लाविया के विभाजन में जर्मनी का प्रत्यक्ष हाथ था। एक नीति के तहत पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने इन देशों के विखण्डन (बाल्कनीकरण) में यथासम्भव योगदान किया जिससे छोटे-छोटे देशों और राष्ट्रों को आसानी से अपने प्रभुत्व में लिया जा सके।

साम्राज्यवादियों ने इन देशों के बाजारों को अपने मालों से पाट दिया। इन देशों की सरकारों द्वारा बेचे जा रहे उपकरणों को उन्होंने खरीद लिया। यहां के कच्चे माल के स्रोतों के दोहन के लिए ज्यादा से ज्यादा प्रयास शुरू कर दिये। यूरेशिया का इतना बड़ा और समृद्ध भू-भाग अब इनकी लूट-खसोट की कार्यवाहियों के लिए खुलेआम उपलब्ध था। साम्राज्यवादियों का इन देशों में 'जनतंत्र' और 'मानवाधिकार' का मिशन पूरा हो चुका था।

साम्राज्यवादी पूंजी द्वारा यहां के बाजार और कच्चे माल की लूट-पाट से अलग पश्चिमी पूंजीवादी विश्व द्वारा इनके आत्मसातीकरण की प्रक्रिया केवल कुछ देशों तक ही सीमित है। साम्राज्यवादी पूंजी इन देशों की अर्थव्यवस्था पर अधिकार जमा लेगी लेकिन ऐसा नहीं होगा कि ये सारे के सारे देश उसी स्तर के जीवन स्तर और राजनीतिक बराबरी को प्राप्त कर लेंगे जो पश्चिमी यूरोप के देशों में है।

अपने समूचे भू-राजनीतिक समीकरणों के तहत पश्चिमी यूरोप ने इनमें से कुछ को आत्मसात करने की योजनाएं बनायीं हैं लेकिन इनकी संख्या काफी कम है। ये बाल्टिक राज्य तथा हंगरी, चेक व स्लोवाकिया जैसे देशों तक सीमित हैं। नाटो का हाल-फिलहाल यहां तक विस्तार करने की सोची गई है। हालांकि पूर्वी यूरोप के कई सारे देश यूरोपीय यूनियन में भी शामिल होना चाहते हैं, लेकिन वे अभी इसके 'योग्य' नहीं समझे जा रहे हैं। साम्राज्यवादी पूंजी को इनकी अर्थव्यवस्थाओं तक वैसे ही पहुंच हासिल है। ऐसे में इन पिछड़े देशों को अपने में शामिल कर वे अपने ऊपर बेवजह का भार नहीं बढ़ाना चाहेंगे।

पूर्वी यूरोप और सोवियत संघ के इन देशों को मोटा-मोटी चार श्रेणियों में बांटा जा सकता है :

- क. बाल्टिक समेत मध्य यूरोपीय देश
- ख. पिछड़े पूर्वी यूरोपीय देश
- ग. रूस
- घ. एशियाई देश

पोलैण्ड, चेक, हंगरी जैसे देशों की श्रेणी उन देशों की श्रेणी है जो अपेक्षाकृत काफी विकसित हैं। इसीलिए वे पश्चिमी यूरोप द्वारा आत्मसातीकरण के सबसे नजदीक भी हैं। ये वे देश हैं जिन तक यूरोपीय यूनियन देर-सबेर अपना प्रसार करेगा।

विघटित और युद्ध से जर्जर युगोस्लाविया, उक्रेन समेत पिछड़े पूर्वी यूरोपीय देश दूसरी श्रेणी बनते हैं। ये न केवल कम विकसित हैं बल्कि राष्ट्रीयता इत्यादि कई सारी समस्याओं से ग्रस्त भी हैं। इन देशों में 90 के दशक में शुरू हुयी आर्थिक पुनर्संरचना की प्रक्रिया अभी भी स्थिरता ग्रहण करने के दौर से गुजर रही है।

रूस इस समूह का सबसे महत्वपूर्ण देश है। यह न केवल इनमें से सबसे बड़ा (आबादी और क्षेत्रफल दोनों में) देश है अपितु यह अभी भी सामरिक महाशक्ति है। इसकी सामरिक क्षमता अभी भी दुनिया में अमरीका के बाद दूसरे नंबर की है और बाकी किसी भी देश से काफी ज्यादा है। हालांकि यह अभी भी आर्थिक संकट से गुजर रहा है तथा इसके उत्पादन ने अभी 1990 के पहले के स्तर को प्राप्त नहीं किया है लेकिन तब भी इसकी कुल आर्थिक ताकत को कम करके नहीं आंका जा सकता। विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में एकाकार होकर यह उसके गति के नियमों से बच नहीं सकता और इसीलिए वह अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा पश्चिमी साम्राज्यवादियों के सामने हाथ पसारने को मजबूर है। लेकिन अपनी अर्थव्यवस्था के थोड़ा स्थिरता ग्रहण करते ही वह विश्व राजनीति में और साम्राज्यवादी लूट-खसोट में अपनी भूमिका ग्रहण कर लेगा। बल्कि वह अभी से करने भी लगा है। शंघाई सहकार परिषद जैसे इसके प्रयास इसी के द्योतक हैं। दुनिया के संपूर्ण शक्ति संतुलन में अभी अपेक्षाकृत सुप्त भूमिका के बावजूद यह देर-सबेर अपनी आर्थिक और सामरिक ताकत के अनुरूप मैदान में उतरेगा और साम्राज्यवादी लूट में अपना हिस्सा बंटायेगा।

इस समूह के सबसे पिछड़े देश हैं सोवियत संघ के एशियाई घटक कजाकिस्तान, उज्बेकिस्तान इत्यादि। हालांकि इनमें आपस में काफी भिन्नताएं हैं लेकिन अपेक्षाकृत पिछड़ापन इनकी समान विशेषता है। लेकिन इस पिछड़ापन के बावजूद ये देश आम एशियाई तथा तीसरी दुनिया के अन्य देशों की तरह नहीं हैं और न ही वे भविष्य में उनकी तरह बन जायेंगे। अपनी अर्थव्यवस्थाओं पर साम्राज्यवादी पूंजी की पकड़ के बढ़ने के बावजूद उनकी नियति तीसरे दुनिया की नियति नहीं है। पर साथ में यह भी सच है कि तेल के भंडार होने के चलते आने वाले दिनों में इन पर साम्राज्यवादी देशों का दबाव और भारी मात्रा में बढ़ेगा।

अपनी सारी विभिन्नताओं के बावजूद पूर्वी यूरोप और सोवियत संघ के ये देश ज्यादातर औद्योगिक देश हैं। हालांकि ये विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में एकाकार होने के बाद साम्राज्यवादी पूंजी के समग्र प्रभुत्व में हैं पर इन देशों का साम्राज्यवाद से वह सम्बन्ध नहीं है जो तीसरी दुनिया का है। रूस तो खुद साम्राज्यवादी देश है। साम्राज्यवादी पूंजी इन देशों का बेतहाशा शोषण कर रही है लेकिन तब भी इनकी अधीनता की स्थिति वह नहीं होगी जो तीसरी दुनिया के देशों की है। इन देशों की भू-राजनीतिक स्थिति की भी इसमें कम भूमिका नहीं है। ये देश एक तरह से पश्चिम के विकसित पूंजीवादी देशों और तीसरी दुनिया के देशों की मध्यवर्ती स्थिति हैं।

ये ज्यादातर औद्योगिक देश हैं। क्रांतियों से पहले ये सारे पिछड़े देश थे लेकिन समाजवादी निर्माण ने इनकी स्थिति को बदल दिया। हालांकि राजकीय पूंजीवाद के और सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के प्रभुत्व के जमाने में इन देशों के औद्योगिक विकास में काफी विकृतियां आयीं जब इन्हें सोवियत नौकरशाह पूंजीपतियों ने एक विकृत श्रम विभाजन में बांधा, लेकिन तब भी ये देश औद्योगिक देश बने रहे। इन देशों में आबादी का भारी हिस्सा सर्वहारा है और छिपे और खुले पूंजीवाद द्वारा पैदा किये गये पतन के बावजूद वह बहुत सुसंस्कृत और पढ़ा-लिखा है। इस मायने में समाजवाद की उपलब्धियों के अवशेष अभी भी मौजूद हैं। साथ ही क्रांति और समाजवाद की स्मृतियां भी उनके मानस पटल से पूर्णतया तिरोहित नहीं हुयी हैं।

हालांकि दुनिया के बाकी देशों की तरह यहां भी कोई सुसंगठित कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन मौजूद नहीं है लेकिन मजदूर और बाकी मेहनतकश जनता का प्रतिरोध लगातार जारी है। खासकर, खुले पूंजीवाद की विभीषिकाओं को लोग चुपचाप स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। हड़तालों, जुलूसों, प्रदर्शनों का तांता लगा हुआ है। अक्टूबर क्रांति की जयंती पर और मई दिवस के अवसर पर कई शहरों में आसमान लाल झंडों से भर जाता है। भांति - भांति की 'समाजवादी' और 'कम्युनिस्ट' पार्टियों का उठ खड़ा होना और ताकतवर बन जाना भी मजदूर वर्ग और जनता के इसी प्रतिरोध और आकांक्षा की अभिव्यक्ति है।

देर-सबेर इन देशों का सर्वहारा वर्ग अपनी वास्तविक क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टियां संगठित करेगा। यह सर्वहारा पिछली क्रांतियों की सफलताओं से प्रेरणा और गलतियों से सबक लेते हुए अपने नये शासक वर्गों के खिलाफ उठ खड़ा होगा और उन्हें ध्वस्त कर पुनः अपनी तानाशाही कायम करेगा। वह महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के सबकों को याद रखते हुए अपने समाजवादी समाज के निर्माण के कार्य को अंजाम देगा।

इन देशों में यह समाजवादी क्रांति अपने शासक पूंजीपति वर्ग के खिलाफ होगी। इसी क्रांति के माध्यम से साम्राज्यवादी पूंजी के प्रभुत्व को भी ध्वस्त कर दिया जायगा।

इन देशों में राष्ट्र निर्माण के कोई कार्यभार नहीं हैं। जहां तक राष्ट्रीयताओं की समस्या का सवाल है, इसे भावी समाजवादी क्रांति ही हल करेगी। उसके पहले वे इस या उस रूप में बनी रहेंगी क्योंकि अब वे आम पूंजीवादी संकट का हिस्सा हैं।

III. तीसरी दुनिया के देशों की वर्तमान स्थिति

यहां तीसरी दुनिया शब्द का इस्तेमाल पिछड़े देशों के समुच्चय को ध्वनित करने के लिए किया जा रहा है, किसी और अर्थ में नहीं। तीन दुनिया के सिद्धान्त वाले अर्थ में तो कतई नहीं।

तीसरी दुनिया के देशों में वे सारे देश आते हैं जो कभी उपनिवेश, अर्ध-उपनिवेश या नव-उपनिवेश रह चुके हैं। आज इन देशों को मोटा-मोटी निम्नलिखित सात श्रेणियों में बांटा जा सकता है :

- क. चीन, वियतनाम, क्यूबा, उत्तरी कोरिया, लाओस
- ख. ब्राजील, मैक्सिको, अर्जेन्टीना, भारत, मिश्र, ईरान, दक्षिण-अफ्रीका, इत्यादि
- ग. श्रीलंका, बांग्लादेश जैसे आजाद किन्तु कमजोर देश
- घ. दक्षिण-पूर्व एशिया के देश
- च. खाड़ी के अरब देश
- छ. उप सहारा या काले अफ्रीका के देश
- ज. मध्य-अमेरिका, कैरेबियन द्वीप समूह व फिलीपीन्स इत्यादि

पहली श्रेणी उन देशों की है जो कभी उपनिवेश या अर्ध-उपनिवेश थे तथा जहां कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनवादी क्रांतियां हुईं और बाद में समाजवाद कायम हुआ। क्यूबा की क्रांति का शुरुआती चरित्र थोड़ा भिन्न था लेकिन जल्दी ही वह भी समाजवादी देशों की पांत में शामिल हो गया। इन सभी देशों में क्रांतिकारी तरीके से साम्राज्यवाद से आमूल-चूल विच्छेद किया गया तथा सामंती सम्बन्धों को समाप्त किया गया। बुर्जुआ जनवादी क्रांतियों के दोनों कार्यभार—साम्राज्यवाद से मुक्ति तथा सामंतवाद का खात्मा तीसरी दुनिया के देशों में सबसे अच्छी तरह से इन्हीं देशों में पूरे किये गये। इन देशों में भिन्न भिन्न समय में पूंजीवादी पुनर्स्थापना हुयी और आज इन सभी में राज इजारेदार पूंजीवाद कायम है। उत्तरी कोरिया को छोड़कर ये सभी देश अपने यहां पूंजीवादी पुनर्स्थापना के बाद विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में अधिकाधिक एकाकार होते गये हैं हालांकि इनके एकीकरण की मात्रा और गति सभी देशों में भिन्न-भिन्न रही है। उत्तरी कोरिया भी विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का हिस्सा है। बस वह अपेक्षाकृत अलगाव की अवस्था में है। चीन, वियतनाम, क्यूबा में वहां के शासक 'समाजवादी' रूप और पूंजीवादी अंतर्वस्तु के अंतर्विरोध को क्रमशः खुद ही हल कर रहे हैं, अधिकाधिक खुले पूंजीवाद को अपनाकर। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि ये पूर्वी यूरोप सरीखे विस्फोट के खतरे से सर्वथा मुक्त हैं।

दूसरी श्रेणी उन बड़े देशों की है जो अपेक्षाकृत औद्योगिक हैं तथा अपने आकार (आबादी, क्षेत्रफल, अर्थव्यवस्था तीनों) और भू-राजनीतिक स्थितियों की वजह से तीसरी दुनिया में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। एक रूप में देखा जाय तो ये तीसरी दुनिया के नेता रहे हैं और समूची तीसरी दुनिया की स्थिति, खासकर साम्राज्यवाद से उसके रिश्ते को काफी कुछ प्रभावित और तय करते रहे हैं। एक समय 'नयी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' की मांग जोर-शोर से उठाने वाले यही देश थे। इन्हीं के सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के साथ मोर्चे के चलते 1970 व 80 के दशक में अमरीकी साम्राज्यवाद को खासी मुश्किलों का सामना करना पड़ा था।

तीसरी श्रेणी श्रीलंका, बांग्लादेश जैसे उन कमजोर देशों की है जो आजाद तो हैं लेकिन अपने दम पर साम्राज्यवादियों के सामने नहीं खड़े हो सकते। वे अपने समग्र हितों की खातिर तीसरी दुनिया के बड़े देशों का दामन पकड़ते हैं। तीसरी दुनिया के बड़े देश अपनी बारी में इनके साथ क्षेत्रीय शक्ति का बर्ताव करते हैं और इनके साथ प्रभुत्व के रिश्ते बनाते हैं।

चौथी श्रेणी में दक्षिण कोरिया, ताइवान, सिंगापुर, थाइलैण्ड जैसे वे देश आते हैं जिन्होंने अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ एक खास रिश्ते में बंधकर एक खास तरीके से अपने यहां पूंजीवाद का विकास किया। ये सभी एक तरह से अमरीका के नव-उपनिवेश थे। 1997-98 के संकट के पहले तक ये एशियाई बाघ कहे जा रहे थे तथा 'चमत्कारी अर्थव्यवस्थाओं' की उपाधि से विभूषित कर साम्राज्यवादी इन्हें माडल की तरह पेश कर रहे थे। ये सभी निर्यातमूलक, राज्य प्रायोजित और काफी कुछ बंद अर्थव्यवस्थाएं थीं। 90 के दशक में हुये इनके वित्तीय उदारीकरण के बाद अंतर्राष्ट्रीय सट्टेबाज पूंजी की कारगुजारियों ने इन्हें 1997-98 में ध्वस्त कर दिया। उसके बाद से वे उसी संकट से उबरने की प्रक्रिया में हैं। मलेशिया और इंडोनेशिया की हालांकि काफी भिन्न स्थिति है लेकिन आज की उनकी समग्र गति उन्हें इसी श्रेणी में रखती है, खासकर जापानी पूंजी के तंतुजाल में इनकी समान स्थिति के चलते।

पांचवी श्रेणी में अरब की खाड़ी के वे देश हैं जो मूलतः तेल निर्यातक देश हैं और जहां मध्ययुगीन शोखों की तानाशाहियां कायम हैं। अपने यहां तेल के भंडार के कारण ये देश हालांकि काफी समृद्ध हैं लेकिन इनके यहां बाकी औद्योगिक या अन्य उत्पादन काफी अविकसित है। इन देशों में तेल का दोहन भी ज्यादातर साम्राज्यवादी तेल कम्पनियां ही करती हैं। इन देशों के शासक तेल से मिली अकूत दौलत को पश्चिमी साम्राज्यवादी बैंकों में जमा करते हैं। इनकी इन बैंकों में इस जमापूंजी के कारण ही खाड़ी संकट के समय सारा साम्राज्यवादी वित्तीय तंत्र कांप उठा था। आनन-फानन में इराक के खिलाफ अमरीका के नेतृत्व में यूरोपीय व अन्य साम्राज्यवादी देशों के गठबन्धन के पीछे इसकी भारी भूमिका थी। अमरीकी साम्राज्यवाद इस क्षेत्र में दृढ़ता से जमा हुआ है और तेल के इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में अपनी प्रभुता को बनाए रखने के लिए वह एड़ी-चोटी का जोर लगाता रहता है।

छठी श्रेणी में वे देश आते हैं जिन्हें शीत युद्ध के दौरान अमरीकी साम्राज्यवाद और सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद की प्रतिद्वन्द्विता ने तथा बाद में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक की नीतियों ने तबाह कर दिया। इन देशों में इथोपिया, अंगोला, सोमालिया, कांगो, रवान्डा इत्यादि देश आते हैं। इन सारे ही देशों में राष्ट्रीय मुक्ति के दौरान सशस्त्र संघर्ष हुये थे और ये उसी के फलस्वरूप मुक्त हुये। अपनी मुक्ति के बाद इन्होंने राष्ट्र निर्माण की जो भी परियोजनाएं लीं, वे दोनों साम्राज्यवादी महाशक्तियों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता की बलि चढ़ गईं। दोनों साम्राज्यवादी महाशक्तियों ने इन देशों में अपनी प्राक्सी लड़ाइयां लड़ीं और इस प्रक्रिया में इन देशों को तबाह कर दिया। यहां तक कि सामान्य शासन व्यवस्था कायम करना भी कुछ देशों में असंभव हो गया। इनमें से कुछ छोटे देशों को तो एक या कुछ साम्राज्यवादी निगमों ने ही तबाह कर दिया। साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी के चंगुल में अभी भी फंसे ये देश साम्राज्यवादी शोषण-उत्पीड़न व विध्वंस का जीता जागता नमूना हैं। इनसे काफी दूर स्थित अफगानिस्तान, कम्पूचिया, यमन भी इसी श्रेणी के देश हैं।

अंतिम श्रेणी उन देशों की है जो अभी भी नव-उपनिवेश बने हुये हैं—पुरानी औपनिवेशिक प्रणाली के अवशेष स्वरूप। इनमें मध्य अमेरिका के देश—कोलंबिया, ग्वातेमाला, अल सल्वाडोर, पेरू इत्यादि, कैरेबियन देश तथा फिलीपीन्स जैसे देश आते हैं। ये 1945 से पहले की दुनिया के वे अवशेष हैं जो 1945 के बाद आयी राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों की आंधी से बचे रहे। आज इनमें से कई में राष्ट्रीय मुक्ति के सशस्त्र संघर्ष चल रहे हैं। हालांकि साम्राज्यवाद के हाल फिलहाल आक्रामक हो जाने के कारण इन मुक्ति युद्धों को काफी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है, पर देर-सबेर वे अपनी मुक्ति हासिल कर लेंगे। मध्य पूर्व में तूफानों का केन्द्र बना फिलीस्तीन भी इसी श्रेणी में आता है।

ये श्रेणियां तीसरी दुनिया के देशों की अलग-अलग धाराओं को अभिव्यक्त करती हैं। निश्चय ही बहुत सारे ऐसे भी देश होंगे जो इनमें से किसी भी श्रेणी में नहीं आयेंगे या एकाधिक श्रेणियों के गुण लिए होंगे। यह बात केवल तीसरी दुनिया के देशों की विविधता को ही दिखाती है। फिर भी इनकी जटिलता को समझने के लिए इस तरह का श्रेणी विभाजन आवश्यक है।

उपरोक्त श्रेणियां यह दिखाती हैं कि तीसरी दुनिया का विशाल हिस्सा उन देशों से बना हुआ है जो राजनीतिक तौर पर मूलतः आजाद हैं। लेकिन वे साम्राज्यवादी पूंजी के समग्र प्रभुत्व के अधीन हैं। विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के दायरे में होने के कारण ये साम्राज्यवादी पूंजी के इस जाल के बाहर जा भी नहीं सकते। परन्तु तब भी इनकी राजनीतिक आजादी मूलतः बरकरार है। पहली तीनों श्रेणियों के बारे में यही बात लागू होती है। उसके बाद की दोनों श्रेणियां विशिष्ट श्रेणियां हैं। इनकी अर्थव्यवस्थाओं को और साम्राज्यवाद के साथ उनके सम्बन्धों को आसानी से पुराने चौखटों में उपनिवेश, अर्ध-उपनिवेश या नव-उपनिवेश में फिट नहीं किया जा सकता। ये समूची साम्राज्यवादी दुनिया के सम्पूर्ण शक्ति संतुलन और विन्यास से पैदा हुयी हैं। मसलन, दक्षिण कोरिया। एक तरह से अमरीका का नव उपनिवेश होने के बावजूद आज वह काफी विकसित देश है और उसकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां सारी दुनिया में मार कर रही हैं। अंत की दोनों श्रेणियां अतीत की छोड़ी हुयी समस्याएं हैं। पहली अंतर्सााम्राज्यवादी प्रतियोगिता का विध्वंसात्मक परिणाम है तो दूसरी इतिहास के बचे-खुचे कार्यभार।

तीसरी दुनिया के देशों का यहां तक का सफर 1945 के बाद के इतिहास का एक जटिल लेकिन संघर्षों से लबालब सफर रहा है।

तीसरी दुनिया के राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों का कार्यभार हालांकि अपने अंतर्गत में बुर्जुआ जनवादी था तथापि अक्टूबर समाजवादी क्रांति के बाद से ये राष्ट्रीय मुक्ति क्रांतियां विश्व पूंजीवादी जनवादी क्रांति का हिस्सा न रहकर विश्व सर्वहारा समाजवादी क्रांति का अभिन्न हिस्सा बन गईं। विश्व सर्वहारा समाजवादी क्रांति साम्राज्यवाद को उसके गढ़ में तोड़ती थी तो राष्ट्रीय मुक्ति की क्रांति उसके पिछवाड़े को।

विश्व सर्वहारा समाजवादी क्रांति का अभिन्न हिस्सा होने के कारण ही राष्ट्रीय मुक्ति क्रांतियों का भविष्य काफी कुछ उसकी गति से तय होता था। समाजवादी क्रांति के आगे बढ़ने से यह आगे बढ़ता था तो उसके पीछे हटने से पीछे। हालांकि राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों की अपनी स्वतंत्र गति भी थी तब भी यह गति समाजवादी क्रांति की गति से काफी प्रभावित होती थी। इसका सबसे अच्छा प्रमाण तो आज मिलता है। आज बाकी बची राष्ट्रीय मुक्ति क्रांतियां एक जगह आ कर फंस गई हैं क्योंकि उनको सहायक गति प्रदान करने वाली समाजवादी क्रांति हाल-फिलहाल पराजित हो गई है। दक्षिण-अफ्रीका की मुक्ति के अत्यन्त दयनीय स्वरूप ने भी इसी बात को प्रमाणित किया है। अफ्रीका के सबसे शानदार मुक्ति युद्धों में से एक दक्षिण अफ्रीका के मुक्ति संघर्ष की यह दयनीय परिणति समाजवाद की वक्ती पराजय के कारण हुयी है। समाजवाद की पराजय के बाद केवल अन्तर साम्राज्यवादी प्रतियोगिता इस मुक्ति संघर्ष को कोई खास गति नहीं दे सकती थी। और 1990 के बाद तो यह प्रतियोगिता भी अमरीकी प्रभुत्व से प्रतिस्थापित हो गई। ऐसे में दक्षिण अफ्रीका के मुक्ति संघर्ष का कोई बहुत शानदार भविष्य नहीं बचा था। फिलीस्तीनी मुक्ति संघर्ष की परिणति तो इससे भी बुरी हुयी। आज फिलीस्तीनी जनता इस परिणति को नकारकर मैदान में पुनः आ डंटी है, पर हाल-फिलहाल उसके सामने की चुनौतियां बहुत बड़ी हैं।

1945 के बाद का राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों का इतिहास पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था के ध्वंस का, कुछ समय के लिए नव-औपनिवेशिक व्यवस्था के कायम होने का और अंततः इसके भी ध्वस्त होने का इतिहास है। इस इतिहास में काफी उतार-चढ़ाव आये हैं, कई आगे-पीछे की गतियां रही हैं, लेकिन कुल मिलाकर समग्र गति औपनिवेशिक, नव औपनिवेशिक व्यवस्था के खात्मे की तथा तीसरी दुनिया की राजनीतिक आजादी के पुख्ता होने की अग्रगति रही है।

सभी देशों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों का इतिहास एक सा नहीं रहा है। इनमें से अलग-अलग देशों ने अलग-अलग रास्ता अपनाया और उनके बाद के भविष्य को संघर्ष के इस रास्ते ने भी काफी कुछ तय किया।

इनमें से कुछ देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनवादी क्रांतियां हुईं तथा उसके बाद समाजवाद कायम हुआ। इन देशों में ही राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार सबसे मुकम्मल तरीके से पूरे हुये।

कुछ अन्य देशों में राष्ट्रवादियों या पेटी बुर्जुआ के नेतृत्व में राष्ट्रीय मुक्ति के लिए हथियार बन्द संघर्ष हुए। यहां भी साम्राज्यवाद से आमूल विच्छेद किया गया लेकिन बाद में विश्व पूंजीवाद के दायरे में ही राष्ट्र निर्माण का मार्ग चुनने के कारण इनके राष्ट्र निर्माण को भारी समस्याओं का सामना करना पड़ा।

इसके अलावा एक श्रेणी ऐसे देशों की थी जिसके पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवादियों के साथ संघर्ष-समझौते की दुहरी नीति अपनायी और अन्त में जनता के संघर्षों का फायदा उठाते हुये समझौते के द्वारा आजादी हासिल कर ली।

इसके साथ दक्षिण कोरिया जैसे देश भी थे जिन्होंने मूलतः साम्राज्यवाद के आधिपत्य में ही अपने विकास का मार्ग चुना।

राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों की विभिन्न देशों में विभिन्नताओं के बावजूद इनकी गति कुछ इस तरह की थी कि शुरू में इनकी आजादी अपेक्षाकृत औपचारिक और कमजोर बनी रही लेकिन जैसे-जैसे आजाद होने वाले देशों की संख्या बढ़ती गई और औपनिवेशिक तंत्र छिन्न-भिन्न होता गया वैसे-वैसे इनकी औपचारिक आजादी वास्तविक आजादी में रूपान्तरित होती गई। मात्रा गुण में बदलती गई।

पचास व साठ के दशक में एक वक्त था जब अमरीकी साम्राज्यवादी नये-नये आजाद हुये देशों की कमजोरी का फायदा उठाकर उनमें से कुछ को अपने नव औपनिवेशिक शिकंजे में जकड़ने में कामयाब हो गये थे। साम्राज्यवादी और विशेषकर अमरीकी साम्राज्यवादी उपनिवेशों को अपने चंगुल से यूं ही छोड़ने के लिए कतई तैयार नहीं थे। इसके लिए उन्होंने आर्थिक-राजनीतिक-सामरिक कई जाल बिछा रखे थे। लेकिन इतिहास की अग्रगति के आगे वे बहुत ज्यादा नहीं बने रह सकते थे और अंततः इतिहास की अग्रगति ने इस नव-औपनिवेशिक ताने-बाने को भी छिन्न-भिन्न कर दिया। सत्तर का दशक बीतते न बीतते औपनिवेशिक और नव-औपनिवेशिक दोनों ही व्यवस्थाएं तार-तार हो चुकी थीं।

तीसरी दुनिया के देशों की राजनीतिक आजादी की इस यात्रा में समाजवादी खेमे की और अन्तरसाम्राज्यवादी अंतर्विरोधों की अहम् भूमिका रही। पहले समाजवादी खेमे की उपस्थिति ने और बाद में चीन और अल्बानिया के समाजवाद ने इन मुक्ति युद्धों को काफी गति प्रदान की। इसके साथ ही साथ इन देशों ने साम्राज्यवादियों के आपसी अंतर्विरोध का, खासकर शीत युद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों के आपसी अंतर्विरोधों का बहुत फायदा उठाया। इसने उन्हें किसी एक साम्राज्यवादी शक्ति या खेमे के आधिपत्य में आ जाने से बचने में मदद की।

तीसरी दुनिया के देशों ने अपनी राजनीतिक आजादी को सुदृढ़ करने के लिए तथा राष्ट्र निर्माण के अपने कार्यभारों को पूरा करने के लिए साम्राज्यवादियों से सौदेबाजी हेतु अपनी सामूहिक संस्थाएं बनायीं। इन्होंने गुट निरपेक्ष आंदोलन का गठन किया, G-77, G-24, G-15, ओपेक जैसे ग्रुप बनाए तथा 70 व 80 के दशक में संयुक्त राष्ट्र संघ के मंचों का भी जमकर इस्तेमाल किया। हालांकि अकेले-अकेले वे साम्राज्यवादियों के सामने काफी कमजोर थे लेकिन उनकी सामूहिक सौदेबाजी की ताकत ने उनकी स्थिति को असहाय हो जाने से रोका, उन्हें मजबूती प्रदान की।

तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों ने आजादी के बाद अपने यहां विकास का, राष्ट्र निर्माण का जो रास्ता चुना वह विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के दायरे में विकास का रास्ता था। केवल समाजवादी देशों ने ही साम्राज्यवाद से संपूर्ण विच्छेद किया था। बाकी देश राजनीतिक आजादी हासिल करने और सुदृढ़ीकरण करने के बावजूद साम्राज्यवादी व्यवस्था के ताने-बाने के हिस्से थे। विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के दायरे में विकास का रास्ता चुनने के कारण इसके सिवा कुछ हो भी नहीं सकता था।

इस विकास प्रक्रिया के दौरान तीसरी दुनिया के विभिन्न देशों की साम्राज्यवादी ताने-बाने में स्थिति भिन्न-भिन्न थी। इनमें से कुछ देशों ने साम्राज्यवाद से सीमित अलगाव का मार्ग चुना तो कुछ ने अपेक्षाकृत ज्यादा अलगाव का। कुछ देश ऐसे भी थे जिन्होंने साम्राज्यवाद के साथ पूर्णतया नत्थी होकर ही अपने विकास के रास्ते पर कदम बढ़ाया। किस देश के पूंजीपति वर्ग ने क्या रास्ता चुना इसे कई कारकों ने तय किया। इसमें उस देश के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के इतिहास और वहां के पूंजीपति वर्ग के चरित्र ने अहम् भूमिका निभाई। लेकिन इसके साथ बहुत से अन्य कारकों ने भी, मसलन उस देश का इतिहास, उसका क्षेत्रीय व आबादी का आकार तथा प्राकृतिक संसाधन, उसकी भू-राजनीतिक अवस्थिति इत्यादि ने भी उसमें खासी भूमिका अदा की। अमेरिका का एक तरह से नव उपनिवेश दक्षिण कोरिया एक अपेक्षाकृत विकसित पूंजीवादी देश बन गया जबकि कोलंबिया पिछड़ा ही बन रहा तो इसमें इन कई कारकों ने भूमिका अदा की।

लेकिन कुल मिलाकर ये सारे ही देश, समाजवादी देशों को छोड़कर, विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के हिस्से थे। (समाजवादी देशों में भी पूंजीवादी पुनर्स्थापना के बाद, दोनों महाशक्तियों की तीखी प्रतियोगिता के बावजूद, पश्चिमी साम्राज्यवादी पूंजी ने अपनी घुसपैठ शुरू कर दी थी।) इस विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का हिस्सा रहते हुये ही उन्होंने अपने लिए बेहतर शर्तें हासिल करने का पूरा प्रयास किया था तथा इन शर्तों का इस्तेमाल अपने आर्थिक विकास में और राजनीतिक आजादी के सुदृढ़ीकरण में किया था। इसके लिए उन्होंने अपनी सामूहिक ताकत का, समाजवादी खेमे व साम्राज्यवादी खेमे के अंतर्विरोध का तथा बाद में दोनों साम्राज्यवादी खेमों की तीखी प्रतिद्वन्दिता का इस्तेमाल किया।

लेकिन समग्रता में विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का, जो कि साम्राज्यवादियों द्वारा नियंत्रित थी, हिस्सा होने के कारण वे कभी भी उससे पैदा हुए संकटों से मुक्त नहीं रहे। खुद अपनी कमजोरी के चलते पैदा होने वाले गंभीर संकटों के अलावा वे साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के संकट से भी बुरी तरह प्रभावित होते थे, खासकर तब जब साम्राज्यवाद अपने संकटों से निपटने के लिए इनकी गर्दन कसता था। इसका एक महत्वपूर्ण रूप था व्यापार की शर्तों को तीसरी दुनिया के खिलाफ करना, इनके द्वारा निर्यातित कच्चे और अर्द्ध-निर्मित मालों के दामों को नीचे की ओर धकेलना। कर्ज व अनुदान इसके अन्य हथियार थे।

इन सबके चलते वे देश भी तेजी से विकास नहीं कर सकते थे जिन्होंने साम्राज्यवाद से अपेक्षाकृत आमूल विच्छेद किया था तथा जहां सामंतवाद विरोधी कार्यभार या तो थे ही नहीं या उन्हें अपेक्षाकृत बेहतर तरीके से पूरा किया गया था यानि वे न केवल अतीत के साम्राज्यवादी शोषण-उत्पीड़न से अपंग थे बल्कि वर्तमान साम्राज्यवादी संबन्ध भी इन पर काफी दबाव बनाए हुए थे। समाजवाद के मजबूत गढ़ों के खत्म हो जाने से वे उस सहायक से भी वंचित हो गये जिससे वे अपनी इस ऐतिहासिक अपंगता और वर्तमान बाधाओं से छुटकारा पा सकते थे।

इस तरह कुल मिलाकर इन देशों में दोनों ही गतियां विद्यमान थीं। एक ओर कुछ ऐसी शक्तियां थीं जो इनके विकास को मदद पहुंचा रही थीं तो दूसरी ओर कुछ इनको बाधित भी कर रही थीं। परिणाम इन दोनों की खींच-तान के कुल योग से तय होना था।

परिणाम 70 के दशक के मध्य से तथा खासकर 80 के दशक से आना शुरू हुआ। एक ओर तो इन्होंने अपना विकास किया। सार्वजनिक क्षेत्र, आयात प्रतिस्थापन, तकनीक हस्तांतरण तथा सीमा संरक्षण इत्यादि नीतियों के माध्यम से अपने यहां उद्योगों का इस या उस स्तर तक विकास किया। खाद्यान्न संकट जैसी समस्याओं से मुक्ति पायी। पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का इस या उस स्तर तक विकास किया। लेकिन दूसरी ओर इनके विकास की गति बहुत धीमी रही, विकास बहुत असंतुलित और विकृत रहा। चौमुखी पूंजीवादी विकास होने के बदले विकास बहुत असमान रहा। कुछ कमजोर, पिछड़े देश तो एक या कुछ उद्योगों या कच्चे माल के निर्यात पर या कृषि उत्पाद पर निर्भर होकर रह गये। ऐसे में जब इनका संकट तीखा हुआ और वैश्विक परिस्थितियां इनके प्रतिकूल हो गईं तो ये उस दबाव को सह पाने में बहुत कमजोर साबित हुए।

चूंकि इन देशों ने विश्व पूंजीवाद के दायरे में विकास किया था इसलिए जब इनका आंतरिक संकट तीखा होने लगा तो इनके सामने इसके अलावा कोई रास्ता नहीं था कि वे उसी वैश्विक पूंजीवादी व्यवस्था के दायरे में ही इसका समाधान खोजें। वे साम्राज्यवादी पूंजी के समग्र ताने-बाने में बंधे होने के कारण उससे बाहर जा भी नहीं सकते थे।

इनका खुद का आंतरिक संकट इनके पूंजीवादी विकास के रास्ते से तय हो रहा था। अपने अतीत की अपंगता के कारण और विश्व पूंजीवाद द्वारा लादी गयी सीमाओं के कारण इनके पूंजीवादी विकास की सीमाएं भी बहुत ज्यादा थीं। पूंजीवादी उत्पादन संबन्धों के कायम होते न होते इस विकास को अवरुद्ध हो जाना था। बल्कि खुद इन पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का विकास भी बहुत विकृत तरीके से होना था।

यही हुआ भी। हिचकोले खाता हुआ यह पूंजीवादी विकास जैसे ही एक मुकाम तक पहुंचा यह संकटग्रस्त होना शुरू हो गया। एक के बाद एक देश अपने ढांचागत संकट से ग्रस्त होने लगे। इसकी ऊपरी अभिव्यक्तियां मुद्रा संकट, भुगतान संतुलन का संकट, व्यापार घाटा इत्यादि थीं।

ये देश एक के बाद एक जैसे-जैसे संकट ग्रस्त होते गये वे अपने संकटों से फौरी निजात के तौर पर साम्राज्यवादियों के पास जाते गये। वे और कहीं जा भी नहीं सकते थे। इस संकट का फायदा उठाने के लिए, इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर अपनी इजारेदार पूंजी की गिरफ्त और मजबूत करने के लिए साम्राज्यवादियों ने अपनी अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं, खासकर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक का इस्तेमाल किया। इसके साथ ही साम्राज्यवादी बैंकों की उफनती पूंजी को अपने लिए नयी-नयी जगहें भी उपलब्ध होने लगीं।

इन देशों के संकट ग्रस्त होने और साम्राज्यवादियों की शरण में जाने के साथ-साथ इस समय एक दूसरी और इसकी एकदम विरोधी प्रक्रिया भी चल रही थी। इसी समय दोनों साम्राज्यवादी महाशक्तियों की आपसी

प्रतिद्वन्द्विता चरम पर थी। बल्कि इस दौरान सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद आक्रामक हो रहा था। इसने अमरीकी साम्राज्यवादी खेमे पर दबाव बढ़ाने के लिए तीसरी दुनिया के देशों को अपने साथ लेने की नीति भी अपनायी। इस प्रतिद्वन्द्विता से तीसरी दुनिया के देशों को सौदेबाजी का बेहतर मौका मिला।

जैसे-जैसे ये देश अपने यहां पूंजीवादी विकास करते गये, जैसे-जैसे उनकी आत्म निर्भरता बढ़ी लेकिन साथ ही जैसे-जैसे उनके पूंजीवादी विकास की सीमाएं स्पष्ट होती गईं और संकट बढ़ता गया वैसे-वैसे इन देशों ने संपूर्ण वैश्विक व्यवस्था में बदलाव की और उसमें अपने लिए बड़े हिस्से की मांग उठानी शुरू की। उनकी 'नयी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' की मांग इसी दौर में उठनी शुरू हुयी। इसका सीधा सा मतलब था वैश्विक अतिरिक्त मूल्य के विनियोग में तीसरी दुनिया के पूंजीपति वर्ग का हिस्सा बढ़ाना। चूंकि इस मांग से सोवियत खेमे तथा यहां तक कि कुछ कमजोर पश्चिमी पूंजीवादी देशों को भी फायदा होना था, अतः इन्होंने भी प्रत्यक्षतः और परोक्षतः इस मांग का समर्थन किया। सत्तर के दशक के मध्य में उठी यह मांग सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के पराभव और पतन तक जारी रही। इसके बाद इसकी जगह अमरीकी साम्राज्यवादियों की 'नयी विश्व व्यवस्था' ने ले ली जिसकी शुरूआत खाड़ी संकट से हुयी।

सत्तर के दशक के मध्य से 80 के दशक के अन्त तक ये दोनों परस्पर विरोधी गतियां एक साथ जारी रहीं। एक ओर तो तीसरी दुनिया के देश अपनी सामूहिक ताकत और दोनों साम्राज्यवादी महाशक्तियों के तीखे अंतर्विरोध का फायदा उठाकर पश्चिमी साम्राज्यवादियों के सामने खड़े होते रहे तथा विश्व पूंजीवाद के अतिरिक्त मूल्य विनियोग में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए 'नयी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' की मांग करते रहे तथा दूसरी ओर अपने-अपने व्यक्तिगत संकटों से निपटने के लिए पश्चिमी साम्राज्यवादियों की शरण लेते रहे और उनकी शर्तों को, अनिच्छा से ही सही, स्वीकार करते रहे। एक ओर तो इन शर्तों के फलस्वरूप पश्चिमी साम्राज्यवाद द्वारा नियंत्रित विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में उनका एकीकरण बढ़ता रहा, दूसरी ओर वे इसी व्यवस्था से अपने लिए ज्यादा बेहतर शर्तों और अतिरिक्त मूल्य के ज्यादा बड़े हिस्से की मांग करते रहे।

यह समझना भूल होगी कि विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में इनका बढ़ता एकीकरण इनकी इच्छा के विरुद्ध था। इन सभी देशों ने या ज्यादा बेहतर कहें तो इनमें काबिज पूंजीपति वर्ग ने अपनी इच्छा से विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के दायरे में अपने विकास का रास्ता चुना था। इसके भीतर ही अपने विकास के लिए उन्होंने साम्राज्यवाद से सीमित अलगाव कायम किया था। साम्राज्यवाद को तीसरी दुनिया के देशों का यह सीमित अलगाव पसन्द नहीं था लेकिन तब के संपूर्ण शक्ति संतुलन में इसे स्वीकार करना उसकी मजबूरी थी। साम्राज्यवादी पूंजी ने इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर अपना जाल कायम रखा, लेकिन एक सीमा के भीतर ही। जैसे-जैसे इन देशों का पूंजीवादी विकास होता गया वैसे-वैसे इस विकास के होने से (और साथ ही न होने से भी) पैदा हुआ संकट भी गहराता गया। ऐसे में इन देशों के पूंजीपति वर्ग का वैश्विक पूंजीपति वर्ग के साथ एकीकरण अनिवार्य था। संकट से निपटने के लिए वे अपने देश के भीतर जो रास्ता अपनाते—उदारीकरण वगैरह, वह उन्हें लाजमी तौर पर वैश्विक पूंजीवाद से और ज्यादा एकीकरण की ओर ढकेलता। देश के भीतर के पूंजीवादी सम्बन्धों में उदारीकरण कर वे देश के बाहर के पूंजीवादी सम्बन्धों में उदारीकरण से बच नहीं सकते थे। वैसे भी पूंजी देश की सीमाओं को स्वीकार नहीं करती (उन हालात को छोड़कर जब इसके खुद के विकास व विस्तार के लिए सीमाओं की जरूरत होती है) और इन देशों में पूंजीवादी विकास हो जाने के बाद इसे देश की सीमाओं में कैद नहीं रखा जा सकता था। इसे वैश्विक पूंजी से मिलना और उसका अंग बनना ही था। अपने देश में पूंजीवाद का विकास करके

पूँजीपति उसे वैश्विक पूँजीवाद से अलग नहीं रख सकते थे। ऐसे में विश्व पूँजीवादी व्यवस्था से इन देशों के सीमित अलगाव को टूटना ही था। इनका विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में एकीकरण होना ही था। इस एकीकरण का वक्त या रास्ता अलग-अलग हो सकता था, लेकिन इसे देर-सबेर होना था। इन देशों के आंतरिक संकटों ने तो केवल इस एकीकरण को गति प्रदान की। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक ने तो महज इस एकीकरण की प्रक्रिया के लिए दाई का काम किया।

विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में एकाकार होते हुये भी तीसरी दुनिया के पूँजीपति इस व्यवस्था में अपने लिए बेहतर शर्तों और कुल अतिरिक्त मूल्य विनियोग में अपने लिए ज्यादा बड़ा हिस्सा पाने के लिए प्रयासरत् थे। हालांकि उनका आंतरिक संकट उनको इस सौदेबाजी में कमजोर करता था लेकिन उनकी सामूहिक सौदेबाजी और साम्राज्यवादी महाशक्तियों का आपसी अंतर्विरोध उनकी स्थिति को मजबूत भी बनाता था। पश्चिमी साम्राज्यवादियों के साथ तीसरी दुनिया के सम्बन्ध एक तीक्ष्ण संतुलन की अवस्था में थे और इस संतुलन को बनाए रखने का एक महत्वपूर्ण उत्तोलक था सोवियत साम्राज्यवादी खेमे का पश्चिमी साम्राज्यवादियों से अंतर्विरोध।

1980 के दशक के अंत में यह उत्तोलक टूट गया। सोवियत साम्राज्यवादियों और अमरीकी साम्राज्यवादियों के बीच का अंतर्विरोध अमरीकी साम्राज्यवादियों के पक्ष में हल हो गया। अमरीकी साम्राज्यवादी और उसके नेतृत्व में पश्चिमी साम्राज्यवादी हावी हो गये।

पश्चिमी साम्राज्यवादियों के इस तरह हावी हो जाने के बाद तीसरी दुनिया के देशों के लिए साम्राज्यवादियों द्वारा नियंत्रित विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में एकीकरण की शर्तें कठोर हो गईं। 'नयी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' की मांग गायब हो गई। इसके बदले इसकी जगह अमरीकी साम्राज्यवादियों की 'नयी विश्व व्यवस्था' ने ले ली। तीसरी दुनिया के जो देश साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था से पहले ही एकाकार हो गये थे उनके लिए स्थिति विषम हो गई। जो एकीकरण कर रहे थे उनके एकीकरण की शर्तें उनके काफी खिलाफ हो गईं। जो एकीकरण करने के लिए तैयार नहीं थे उनके लिए अपना अलगाव कायम रख पाना बहुत कठिन होने लगा। साम्राज्यवादी पूँजी उन्हें चारों ओर से घेरने लगी और उन पर प्रहार करने लगी। एकीकरण की इन शर्तों के कठोर हो जाने से विश्व पूँजीवाद के सम्पूर्ण अतिरिक्त मूल्य विनियोग में तीसरी दुनिया का हिस्सा बढ़ने के बदले घटने लगा। एकीकरण की इन कठोर शर्तों को साम्राज्यवादियों द्वारा संहिताबद्ध और संस्थाबद्ध किया गया विश्व व्यापार संगठन में।

उपरोक्त उत्तोलक के खत्म हो जाने से तीसरी दुनिया के देशों के लिए जो स्थितियां विषम हुयीं उनके कारण उनकी खुद की सामूहिक सौदेबाजी की संस्थाएं भी निष्प्रभावी हो गईं। गुट निरपेक्ष आंदोलन तो टिका ही था दोनों साम्राज्यवादी खेमों के अंतर्विरोध पर। इस अंतर्विरोध के खत्म होते ही वह भी निरर्थक हो गया। बाकी जिन संस्थाओं में तीसरी दुनिया के देशों ने सौदेबाजी के लिए अपने गुट बना रखे थे उन पर पश्चिमी साम्राज्यवादी पूर्णतया हावी हो गये।

70 के दशक के मध्य से 80 के दशक के अन्त तक तीसरी दुनिया के देशों का विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में एकीकरण और साम्राज्यवादियों से सौदेबाजी दोनों एक साथ चलते रहे। सौदेबाजी यदि पहले से चली आ रही थी और इस बीच बढ़ी थी तो एकीकरण की प्रक्रिया अभी शुरू हुयी थी और कुछ तो इन देशों की पूँजी की आंतरिक गति से और कुछ आंतरिक संकट के गहराते जाने के कारण लगातार बढ़ रही थी। सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के पतन ने एकीकरण की इस प्रक्रिया को झटके से बढ़ा दिया तथा इसकी शर्तें काफी कठोर बना दीं। एकीकरण

की प्रक्रिया पहले से जारी थी और इसे होना ही था। अब यह तीव्र हो गई और इसकी शर्तें तीसरी दुनिया के काफी खिलाफ हो गईं।

यहां यह स्पष्ट करना जरूरी है कि जब तीसरी दुनिया के देशों के विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में एकीकरण की बात की जा रही है तो उसका यह मतलब नहीं है कि सोवियत साम्राज्यवादी खेमा विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का अंग नहीं था। वह भी उसी संपूर्ण विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का एक अंग था। वस्तुतः यह संपूर्ण पूंजीवादी दुनिया तीन हिस्सों में विभाजित थी। पश्चिमी साम्राज्यवादी दुनिया, सोवियत साम्राज्यवादी खेमा और तीसरी दुनिया के देश। तीसरी दुनिया के ज्यादातर देश पश्चिमी साम्राज्यवादी दुनिया की समग्र परिधि के भीतर थे। सोवियत खेमा काफी कुछ इस परिधि के बाहर था हालांकि सीमा लगातार छिद्रित होती जा रही थी। पश्चिमी साम्राज्यवादी दुनिया की समग्र परिधि के भीतर रहते हुए भी तीसरी दुनिया के देश तब उनके खिलाफ सौदेबाजी के लिए सोवियत खेमे के साथ मोर्चा बनाते थे या दोनों खेमों से बराबर दूरी रखने की बात करते थे जिसका पश्चिमी साम्राज्यवाद के लिए मतलब होता था कि वे सोवियत खेमे की ओर जा रहे हैं। इसी तरह पूर्वी यूरोप के सोवियत अधीन देश भी पश्चिमी साम्राज्यवाद से सांठ-गांठ कर सोवियत साम्राज्यवाद के साथ सौदेबाजी करने की कोशिश करते थे। 1989-91 में सोवियत खेमे के पतन से संपूर्ण पूंजीवादी दुनिया का यह विभाजन खत्म हो गया और समग्र दुनिया पश्चिमी साम्राज्यवाद की परिधि के भीतर आ गई। पूर्वी यूरोप और रूस इत्यादि का उसमें एकीकरण होने लगा और तीसरी दुनिया का एकीकरण तीव्र हो गया।

इस एकीकरण के साथ ऐसा नहीं है कि तीसरी दुनिया के पूंजीपति शासक साम्राज्यवादियों के गुलाम या दलाल बन जायेंगे। ये देश फिर से उपनिवेश, अर्ध उपनिवेश या नव-उपनिवेश बन जायेंगे। नहीं। ये देश राजनीतिक तौर पर आजाद देश बने रहेंगे हालांकि इनकी राजनीतिक आजादी पर दबाव काफी बढ़ जायगा। ये उपनिवेश या नव-उपनिवेश जैसी स्थिति में नहीं पहुंचेंगे जब साम्राज्यवादी प्रत्यक्ष राजनीतिक शासन या परोक्ष राजनीतिक नियंत्रण करते थे। साम्राज्यवाद का वह चरण बीत चुका है। वह अब लौट कर नहीं आ सकता। इतिहास पीछे लौटकर वहां नहीं जा सकता। यह साम्राज्यवाद का नया चरण है—आर्थिक नव उपनिवेशवाद का चरण। इसमें साम्राज्यवाद अपनी वित्तीय पूंजी के माध्यम से, उसके संपूर्ण ताने-बाने से तीसरी दुनिया का शोषण करता है। इसमें साम्राज्यवाद तीसरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है, उन्हें अपनी इजारेदार पूंजी के बन्धन में कसता है। वह उनकी राजनीतिक स्वतंत्रता को नष्ट नहीं कर सकता। राजनीतिक स्वतंत्रता और आर्थिक अधीनता की यह स्थिति ही आर्थिक नव-उपनिवेशवाद की लाक्षणिक विशेषता है।

ऐसा नहीं है कि आर्थिक नव उपनिवेशवाद के इस दौर में साम्राज्यवाद राजनीतिक और सामरिक प्रभुत्व का प्रयास नहीं करेगा। वह करेगा लेकिन इसके सफल हो पाने की संभावनाएं अब अत्यन्त सीमित हैं। राजनीतिक और सामरिक हथियार अब आर्थिक प्रभुत्व व शोषण के सहायक होंगे, मुख्य रूप नहीं। ऐसा साम्राज्यवाद की मंशा नहीं, मजबूरी है। मंशा तो अभी भी उसकी पूरी दुनिया को अपना उपनिवेश बना लेने की है। लेकिन ऐसा कर पाना उसके लिए सम्भव नहीं है। बीसवीं सदी की सारी समाजवादी और राष्ट्रीय मुक्ति क्रांतियां व्यर्थ नहीं गई हैं। उन्होंने दुनिया को यहां तक तो पहुंचा ही दिया है।

एक बार फिर रेखांकित कर देने की आवश्यकता है कि अपने आर्थिक शोषण-उत्पीड़न को बचाये रखने के लिए और उसे बढ़ाने के लिए भी साम्राज्यवाद किसी भी राजनीतिक-सामरिक कार्यवाही से नहीं चूकेगा। उसने अपने सामरिक हथियार न केवल बनाए रखे हैं बल्कि उनको लगातार उन्नत भी करता रहता है। ये हथियार

पूजा-अर्चना के लिए नहीं हैं। ये उसकी शोषण-उत्पीड़न वाली व्यवस्था की रक्षा के लिए हैं। जो कोई भी उसकी इस व्यवस्था का उल्लंघन करने का प्रयास करेगा उसे साम्राज्यवाद तुरंत अपनी संपूर्ण मारक क्षमता से अनुशासित करेगा। सद्दाम हुसैन व तालिबान अपने अनुभव से इसे जानते हैं।

लेकिन तब भी आज की दुनिया में साम्राज्यवादी शोषण का प्रधान रूप आर्थिक होगा। यह प्रधानतः साम्राज्यवादी इजारेदार पूंजी के संपूर्ण ताने-बाने से होगा। राजनीतिक और सामरिक हथियार इसके सहायक की भूमिका अदा करेंगे। यह साम्राज्यवादी देशों और तीसरी दुनिया की उत्पादक शक्तियों के बीच विशाल अन्तर से होगा। यह इन दोनों की पूंजी की शक्तियों की बेहद असमानता से होगा।

आर्थिक नव-उपनिवेशवाद की इस दुनिया में तीसरी दुनिया के शासक पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था से एकीकरण कुछ अपनी इच्छा और कुछ मजबूरी दोनों में किया है। यह एकीकरण करके वे विश्व अतिरिक्त मूल्य विनियोग में साम्राज्यवादियों के कनिष्ठ साझेदार बन गये हैं। वे आज साम्राज्यवादियों के दलाल नहीं हैं बल्कि उनके कनिष्ठ साझेदार हैं। पूरी दुनिया में जो अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन हो रहा है उसमें वे अपनी हैसियत और वैश्विक शक्ति संतुलन के हिसाब से अपना हिस्सा बँटा रहे हैं। हालांकि वे वैश्विक पैमाने पर साम्राज्यवादियों के कनिष्ठ साझेदार हैं पर अपने-अपने देशों में उनकी स्थिति वरिष्ठ साझेदार की है।

ऐसा नहीं है कि तीसरी दुनिया के पूंजीपति वैश्विक अतिरिक्त मूल्य विनियोग में अपनी आज की स्थिति से संतुष्ट हैं। साम्राज्यवादियों से एकीकरण में उन्हें आज जिन कठोर शर्तों को मानना पड़ रहा है, वह उन्हें स्वीकार हो, इसका कोई कारण नहीं है। वे स्वेच्छा से अपना हिस्सा नहीं घटाना चाहेंगे। यदि आज वे प्रतिकूल शर्तें मान रहे हैं तो केवल इसलिए कि स्थितियां उनके खिलाफ हैं। लेकिन इसके बावजूद साम्राज्यवादियों से सौदेबाजी का उनका प्रयास जारी है। वे हर मंच पर अपने लिए कुछ बेहतर पा लेने का संघर्ष जारी रखे हुये हैं। विश्व व्यापार संगठन में भी अपने लिए बहुत प्रतिकूल स्थिति होने के बावजूद वे साम्राज्यवादियों से कुछ न कुछ रियायतें झटक लेने का प्रयास करते रहते हैं।

इसी कारण जब भी स्थितियां इनके अनुकूल होंगी, वे अपने को पुनः साम्राज्यवादियों के सामने खड़ा करने का प्रयास करेंगे। यदि भविष्य में अंतरसाम्राज्यवादी अंतर्विरोध तीखे होते हैं तो ये उसका फायदा उठाकर अपनी सौदेबाजी की स्थिति मजबूत कर लेंगे। ऐसा इसीलिए होगा क्योंकि ये साम्राज्यवादियों के दलाल नहीं हैं।

साम्राज्यवादियों के इन कनिष्ठ साझेदारों ने साम्राज्यवादी पूंजी की अधीनता स्वीकार कर ली है। वे अब तीसरी दुनिया में साम्राज्यवादियों के सामाजिक अवलंब बन गये हैं। पहले तीसरी दुनिया में साम्राज्यवाद के सामाजिक अवलम्ब सामंती वर्ग या कबीलाई अभिजात थे। अब इन देशों में पूंजीवादी विकास के फलस्वरूप स्थिति बदल गई है। देशी पूंजी के साम्राज्यवादी पूंजी के साथ गठजोड़ के बाद इन देशों का पूंजीपति वर्ग ही इन देशों में साम्राज्यवाद का वाहक, उसका सामाजिक अवलम्ब बन गया है। साम्राज्यवाद के खिलाफ कोई भी लड़ाई इसके खिलाफ लड़ाई के बिना नहीं हो सकती। केवल इसे निशाना बनाकर ही साम्राज्यवाद को निशाना बनाया जा सकता है।

तीसरी दुनिया के इन देशों में राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार मूलतः पूरे हो चुके हैं। जो बचे हैं वे अब पूंजीवाद के दायरे में पूरे हो भी नहीं सकते। इन देशों में दो कार्यभार एक साथ पूरे करने थे—साम्राज्यवाद से राजनीतिक स्वतंत्रता तथा पूंजीवाद का विकास। ये दोनों ही पूंजीवादी जनवादी कार्यभार थे। इन्हें पूरा करने के

लिए देश के भीतर किसानों और कृषि के सवाल को हल करना था यानि उन्हें पूर्व पूंजीवादी सम्बन्धों से मुक्त कर वहां पूंजीवादी सम्बन्धों का विकास करना था।

इन देशों में पूंजीवादी विकास के साथ ये कार्यभार मूलतः पूरे हो गये हैं। इन पूंजीवादी विकासों के संकटग्रस्त होने के चलते अब इनका इसी दिशा में और ज्यादा विकास होना भी काफी मुश्किल है। हालांकि जब तक पूंजीवाद है तब तक कुछ न कुछ विकास होता ही रहेगा परन्तु इसमें किसी गुणात्मक छलांग लगने की या इनके पश्चिमी पूंजीवादी देशों की तरह विकसित हो जाने की कोई संभावना नहीं है।

इन देशों में पूंजीवादी विकास हो जाने के साथ इन देशों का पूरा पूंजीपति वर्ग प्रतिक्रियावादी हो गया है। इतिहास को आगे बढ़ाने की इसकी भूमिका समाप्त हो गई है। अब यह प्रगतिशील वर्ग नहीं रह गया है। साम्राज्यवादी देशों का पूंजीपति वर्ग तो पहले ही प्रतिक्रियावादी हो गया था। अब तीसरी दुनिया का पूंजीपति वर्ग भी इसी कोटि में पहुंच गया है। इन देशों में पूंजीपति वर्ग का नेतृत्व उसका बड़ा, इजारेदार पूंजीपति वर्ग करता है। परन्तु मध्यम और छोटे पूंजीपति वर्ग भी पूर्णतया उसके साथ रचे - गुंथे हैं। उनका आपस में अंतर्विरोध दोस्ताना अंतर्विरोध है- लुटेरों का अंतर्विरोध। इनमें से कोई भी हिस्सा साम्राज्यवाद विरोध में जनता के साथ नहीं आएगा।

साम्राज्यवाद के साथ इन सारे पूंजीपति वर्गों का अंतर्विरोध कनिष्ठ और वरिष्ठ साझेदार का अंतर्विरोध है। इस अंतर्विरोध के कारण छोटे और मध्यम पूंजीपति थोड़ा या ज्यादा भुनभुना सकते हैं परन्तु वे साम्राज्यवाद विरोध में नहीं खड़े होंगे। इसी तरह ये सारे मिलकर कभी-कभी साम्राज्यवाद विरोध की मुद्रा अख्तियार कर सकते हैं लेकिन यह या तो जनता के साम्राज्यवाद विरोधी तेवरों को ठंडा करने के लिए होगी या फिर साम्राज्यवाद से सौदेबाजी के लिए। यह वास्तविक विरोध नहीं होगा। हां, अपनी राजनीतिक आजादी खतरे में पड़ने पर वे साम्राज्यवाद के विरोध में उठ खड़े होंगे। तब वे सद्दाम हुसैन और कर्नल गद्दाफी बन जायेंगे।

इन देशों में पूंजीवाद का विकास हो जाने और उसके संकटग्रस्त हो जाने के बाद समाजवादी क्रांति एजेण्डे पर आ गई है।

यह समाजवादी क्रांति साथ ही साम्राज्यवादी शोषण-उत्पीड़न से इन देशों को मुक्ति दिलाएगी। इन देशों में साम्राज्यवाद अब देशी पूंजी के माध्यम से काम कर रहा है। अतः इसके खिलाफ प्रहार देशी पूंजी पर प्रहार के माध्यम से ही हो सकता है। वही साम्राज्यवादी पूंजी के इन देशों पर फैले खूनी पंजों को नष्ट कर सकता है।

राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के पूरे दौर में राष्ट्रीय मुक्ति की धारा समाजवादी क्रांति की धारा का अभिन्न अंग रही थी। लेकिन अब राष्ट्रीय मुक्ति का एक दौर पूरा होने के बाद, राष्ट्रीय कार्यभारों के एक हद तक पूरा होने के बाद अब इस धारा का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं बचा है। अब राष्ट्रीय मुक्ति की धारा विश्व सर्वहारा समाजवादी क्रांति का अभिन्न अंग होने के बदले उसमें समाहित हो गयी है। अब राष्ट्रीय मुक्ति के बचे-खुचे कार्यभार इन देशों की समाजवादी क्रांति ही पूरे करेगी।

इसके साथ ही तीसरी दुनिया में कुछ ऐसे देश अभी भी बचे हुए हैं जो नव- औपनिवेशिक दासता के शिकार हैं। यहां राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष जारी है। लेकिन ये इतिहास के बचे-खुचे कार्यभार हैं और आज की दुनिया के संपूर्ण शक्ति संतुलन पर कुछ खास प्रभाव नहीं डालते। आज की दुनिया की गति इनसे निर्धारित नहीं हो रही है। इन देशों में राष्ट्रीय मुक्ति क्रांति की ज्वालाएं प्रज्वलित हैं और देर-सबेर इन देशों में भी राष्ट्रीय मुक्ति के

कार्य पूरे हो जायेंगे। इतिहास अपने पूरे अतीत को छोड़कर आगे बढ़ जायेगा। समूची दुनिया समाजवादी क्रांति के दौर में प्रवेश कर जायगी।

IV. साम्राज्यवाद और आर्थिक नव-औपनिवेशिक दुनिया की समग्र स्थिति

इसमें कोई शक नहीं कि 1980 और 90 के दशक में पूर्वी यूरोप और सोवियत संघ के भूतपूर्व समाजवादी देशों तथा तीसरी दुनिया के देशों के पश्चिमी साम्राज्यवादियों द्वारा संचालित विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में एकीकरण से साम्राज्यवादी पूंजी के निर्बाध संचरण और संचय के लिए नये-नये अवसर उपलब्ध हो गये हैं। जिन जगहों पर अभी तक उस पर इस या उस हद तक प्रतिबन्ध लगे हुए थे उनकी संख्या लगातार कम होती गई है। यह साम्राज्यवादी पूंजी के लिए बहुत खुशी की बात है।

ठीक इसी कारण साम्राज्यवादी और उनके चाकर इस पूरी प्रक्रिया को 'वैश्वीकरण' का नाम देकर इसे महिमामंडित करने का काम कर रहे हैं। इस 'वैश्वीकरण' को उन्होंने उठाकर विचारधारा के स्तर तक पहुंच दिया है। इसे एक मूल्य बना दिया है या फिर ऐसी नियति जिससे कोई अपने नुकसान की कीमत पर ही बचने का प्रयास कर सकता है।

सच तो यह है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया पूंजीवाद के जन्म से ही चल रही है। बल्कि एक खास किस्म के वैश्वीकरण ने तो इसके जन्म में ही भारी भूमिका निभाई। यह वैश्वीकरण था व्यापारिक पूंजीवाद के जमाने का व्यापार का वैश्वीकरण। इसी व्यापार के लिए ही कोलंबस ने नयी दुनिया की खोज की। अफ्रीका-आस्ट्रेलिया समेत सारे महाद्वीप इसी के तहत एक सूत्र से बंध गये।

जैसे-जैसे पूंजीवाद विकसित होता गया यह और ज्यादा वैश्विक होता गया। कच्चे माल के स्रोतों और अपने औद्योगिक मालों के लिए बाजारों की खोज में पूंजीपति धरती के हर कोने-अतरे में घुसपैठ करते गये। क्या तो जंगली - कबीलाई क्या तो सामंती, सभी समाज इसके प्रसार के दायरे में आते गये। अफ्रीका के जंगली कबीलाई काले लोग यदि इनका माल नहीं खरीद सकते थे तो इससे क्या, वे गुलाम बनाकर अमरीका के कपास उत्पादक पूंजीपतियों को तो बेचे जा सकते थे जहां वे इन पूंजीपतियों की पूंजी बढ़ाने का काम करते।

इसके बाद जब पूंजीवाद ने अपने अगले युग में प्रवेश किया यानि साम्राज्यवाद के युग में तब तो यह वैश्वीकरण की प्रक्रिया बेहद ऊंचे स्तर पर पहुंच गई। बल्कि यूं कहा जाय कि पूंजी के वैश्वीकरण की एक बेहद ऊंची मंजिल पर पहुंच कर ही पूंजीवाद साम्राज्यवाद में तब्दील हो गया। वैश्वीकरण की यह इतनी ऊंची मंजिल थी कि इजारेदार घरानों ने वैश्विक स्तर पर बाजारों का बंटवारा प्रारम्भ कर दिया था व पूंजीवादी देशों ने बाकी दुनिया को अपने-अपने उपनिवेशों के रूप में बांट लिया था। वैश्वीकरण की यह प्रक्रिया तब से इसी ऊंचे धरातल पर और आगे बढ़ते हुए जारी है।

कहने का मतलब यह कि 'वैश्वीकरण' कोई नयी चीज नहीं है। जो लोग इसे प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से नयी बता रहे हैं वे महज इसके वर्ग अंतर्य, इसके इजारेदार, इसके साम्राज्यवादी स्वरूप तथा इसकी वास्तविक ऐतिहासिक

प्रक्रिया और निहितार्थ को धूमिल करना चाहते हैं। साम्राज्यवादी जब इसे एक विचारधारा के रूप में प्रचारित करते हैं तो निश्चित ही उनका यही उद्देश्य होता है।

‘वैश्वीकरण’ की इस प्रक्रिया में जो कुछ भी नया है वह महज इतना कि साम्राज्यवादी पूंजी को खुद अपने घर में हाल-फिलहाल कल्याणकारी राज्य के बन्धनों से मुक्ति मिल गई है तथा बाकी दुनिया में, भूतपूर्व समाजवादी देशों और तीसरी दुनिया में उस पर जो सीमित प्रतिबन्ध थे वह समाप्त हो गये हैं। इसलिए यह “पूंजी के वैश्वीकरण” का मामला उतना नहीं है जितना साम्राज्यवादी पूंजी के बाधाहीन संचरण का, समूची दुनिया के मजदूर वर्ग और मेहनतकश जनता को लूटने-चूसने की खुली छूट का। साम्राज्यवादी पूंजी तो पहले भी वैश्विक थी। हां, तब उस पर बाहर और भीतर कुछ प्रतिबन्ध थे। आज ये प्रतिबन्ध काफी हद तक समाप्त हो गये हैं। यही साम्राज्यवादियों के उल्लास का राज है।

यहीं पर यह भी स्पष्ट कर देना होगा कि जब साम्राज्यवादी पूंजी पर बन्धन या प्रतिबन्ध अथवा आज बाधाहीनता की बात की जा रही है तो केवल सापेक्षिक अर्थों में ही। पहले के बन्धन और प्रतिबन्ध न तो पूर्ण और निरपेक्ष थे और न आज की बाधा हीनता ही पूर्ण और निरपेक्ष है। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि जिस दिन साम्राज्यवादी पूंजी संपूर्ण बाधाहीनता के काम करना शुरू करेगी उसी दिन वह अपना गला घोट लेगी। साम्राज्यवादी पूंजी को खुद उसके ही खूनी पंजों से बचाया जाता है। आज के सारे उदारीकरण के बावजूद साम्राज्यवादियों के सुयोग्य प्रतिनिधि जे.के. गैलब्रैथ का कहना है कि यदि 90 के दशक की तीखी मंदी ने 1930 के दशक जैसी तबाही नहीं ढाई, हालांकि वह उससे ज्यादा ही गंभीर थी, तो इसका कारण यह था कि साम्राज्यवादी सरकारों ने हजारों तरीकों से उसे ऐसा करने से रोका। बाधाहीनता के हालात यदि 1920 के दशक जैसे होते तो तबाही उससे ज्यादा होती। यानि, इस अर्थ में बाधाहीनता 1920 के दशक में ज्यादा थी और 1990 के दशक में कम।

सच तो यह है कि साम्राज्यवादी पूंजी के रास्ते की यह बाधाहीनता एक पक्षीय है। यह साम्राज्यवादी पूंजी के लाभों के लिए है, घाटे के लिए नहीं। इसे इस कहावत में सबसे शानदार तरीके से अभिव्यक्त किया गया है कि आज की पूंजी का आप्त वाक्य है : मुनाफा निजी, घाटा सार्वजनिक! साम्राज्यवादियों ने साम्राज्यवादी पूंजी के रास्ते में से जो बाधाएं हटाई हैं वे केवल मुनाफे को बढ़ाने के लिए। कल्याणकारी राज्य का गला भी इसीलिए घोंटा गया। लेकिन जहां तक इस पूंजी के सामने के खतरे और घाटे का सवाल है, वह बाधाहीन नहीं है। साम्राज्यवादी पूंजी के सामने खतरे और घाटे से निपटने के लिए साम्राज्यवादी सरकारें चीन की दीवार की तरह बाधा बन कर खड़ी हो जाती हैं। साम्राज्यवादी सरकारें बेराजगारों के भत्तों में तो कटौती करती हैं लेकिन इजारेदार कम्पनियों को संकट से उबारने के लिए अरबों-खरबों लुटाने को तैयार रहती है। ऐसा वे सार्वजनिक हित में करती हैं। लेकिन ये ‘सार्वजनिक हित’ उतने ही ‘सार्वजनिक हित’ होते हैं जितने भारत के भारवाहक ट्रक सार्वजनिक वाहन होते हैं।

‘वैश्वीकरण’ की चिल्ल-पों में साम्राज्यवादी पूंजी के आज के बाधाहीन संचरण का यह सारा अन्तर्त्य छिप जाता है।

‘वैश्वीकरण’ के इस दावे के झूठे व फरेबी होने के बावजूद विश्व पूंजीवाद में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से कुछ परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों ने पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की किसी मूल-भूत प्रवृत्ति को तो नहीं बदला है परन्तु इससे पूंजीवाद, साम्राज्यवाद में कुछ नयी विशेषताएं उत्पन्न हुयी हैं। क्रांति की सही रणनीति और रणकौशल के लिये इन्हें संज्ञान में लेना जरूरी है।

इन परिवर्तनों में मुख्य हैं: बहुराष्ट्रीय और राष्ट्रपारी निगमों का पैदा होना, इनके द्वारा बढ़ता पूंजी निर्यात, कुछ पिछड़े उद्योगों का तीसरी दुनिया में स्थानांतरण और उत्पादन का विकेन्द्रीकरण, अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन, पूंजी का बहुत बड़े पैमाने पर सट्टेबाजी में लगना, नयी वैज्ञानिक तकनीकी क्रांति—कम्प्यूटर और संचार क्रांति, इनसे जुड़ी 'नयी अर्थव्यवस्था' इत्यादि।

साम्राज्यवाद इजारेदार पूंजीवाद है। और आज इजारेदार पूंजी का संस्थागत रूप हैं बहुराष्ट्रीय / राष्ट्रपारी निगम। इजारेदार पूंजी के ये संस्थागत रूप ज्यादातर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की पैदाइश हैं। ऐसा नहीं है कि उसके पहले बहुराष्ट्रीय कम्पनियां नहीं थीं। लेकिन उनकी संख्या कम थी। उस समय बहुराष्ट्रीय/राष्ट्रपारी इजारेदार संघों का रूप था कार्टेल, सिन्डिकेट और ट्रस्ट। आम तौर पर एक देश के या अलग - अलग देशों के इजारेदार निगम एक दूसरे के साथ मिलकर कार्टेल, सिन्डिकेट या ट्रस्ट का गठन करते थे। ये इजारेदार संघ अस्थाई होते थे और बनते-बिगड़ते रहते थे।

लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जिन दैत्याकार बहुराष्ट्रीय/ राष्ट्रपारी निगमों का उदय हुआ उनकी विशेषता यह थी कि वे बहुत सारे देशों में कारोबार खुद करते थे। ये बाजार इत्यादि के लिए अभी भी दूसरे निगमों के साथ समझौते करते हैं, लेकिन ये इसके बिना भी बखूबी काम करने में सक्षम होते हैं। इनकी पूंजी की विशालता और कई सारे देशों में इनकी उपस्थिति उन्हें इस लायक बनाती है।

इनकी पूंजी की विशालता और दुनिया के कई सारे हिस्सों में इनकी सीधी पहुंच के साथ और उसके चलते इन्होंने यह भी किया है कि किसी भी माल के उत्पादन के लिए ये शुरू से अंत तक आत्म निर्भर होते हैं। कच्चे माल से लेकर उसकी मध्यवर्ती प्रक्रियाएं तथा अंतिम माल सभी उनका आंतरिक, 'इन हाउस' उत्पादन होता है। यह उनकी आत्मनिर्भरता को बहुत ज्यादा बढ़ा देता है। यही नहीं, ये निगम न केवल एक माल का उत्पादन करते हैं बल्कि वे बीसियों प्रकार के माल का उत्पादन करते हैं। यह उनकी अपने प्रतिद्वन्दियों के सामने और आर्थिक मंदी के संकट के समय टिकना आसान बना देता है।

यही बात बहुराष्ट्रीय / राष्ट्रपारी बैंकों पर भी लागू होती है। वे भी केवल पैसा इकट्ठा करने और उद्यमियों को उधार देने के बदले भांति-भांति के लेन-देन का कारोबार करते हैं जिसमें शुद्ध सट्टेबाजी भी शामिल है। ये सारी कार्यवाहियां इनकी टिकाऊ क्षमता को बढ़ा देती है। जो निगम या बैंक अपने व्यवसाय का वैविध्यीकरण नहीं कर पाते, उनका प्रतियोगिता में टिक पाना अपेक्षाकृत मुश्किल हो जाता है।

ये बहुराष्ट्रीय/राष्ट्रपारी निगम अत्यन्त विशाल हैं। हालत यहां तक पहुंच गयी है कि सबसे बड़े निगमों का सालाना उत्पादन मध्यम स्तर के देशों के कुल सालाना उत्पादन के बराबर या उससे ज्यादा पहुंच गया है। जब भारत का सालाना उत्पादन साढ़े तीन सौ अरब डालर के आस-पास था तब दुनिया के सबसे बड़े निगम का सालाना उत्पादन दो सौ अरब डालर से ज्यादा था। इसी एक तथ्य से इन निगमों की ताकत का अंदाज लगाया जा सकता है।

लेनिन ने अपने समय में औद्योगिक और बैंकिंग पूंजी के जिस सम्मिलन की बात कही थी वह आज भी लागू होती है। आज भी बहुराष्ट्रीय/राष्ट्रपारी औद्योगिक निगमों के निदेशक मंडल में बैंकों के निदेशक बैठते हैं तो बैंकों के निदेशक मंडल में औद्योगिक निगमों के निदेशक। इन्हीं दोनों के सम्मिलन से आज भी वित्तीय पूंजी का निर्माण होता है। हां, इतना फर्क पड़ा है कि इन दोनों का ही आकार अत्यंत विशाल हो जाने के कारण दोनों के पास ही अतिरिक्त पूंजी का अंبار लगा रहता है। औद्योगिक निगमों के पास ऐसी पूंजी होती है जो निवेश के

लिए तड़प रही होती है जबकि बैंकों के पास इतनी पूंजी होती है कि वह उधार देने के बाद भी बची रहती है। दोनों के पास ही पूंजी की अधिकता का एक परिणाम आज सट्टेबाज पूंजी के बढ़ते जाते आकार में अभिव्यक्त हो रहा है।

इन राष्ट्रपारी/ बहुराष्ट्रीय निगमों और बैंकों का मालिकाना अभी भी राष्ट्रीय बना हुआ है। हालांकि मालिकाने का 'बहुराष्ट्रीयकरण' बढ़ रहा है परन्तु यह अभी भी क्षीण प्रवृत्ति है। अभी बहुत कम बहुराष्ट्रीय निगम ऐसे हैं जिनका मालिकाना सही मायने में बहुराष्ट्रीय हो। यहां तक कि आर्थिक एकीकरण की ओर लगातार बढ़ रहे यूरोपीय समुदाय के देशों के निगम भी अभी तक मूलतः राष्ट्रीय बने हुए हैं। राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय मालिकाने के मामले में राष्ट्रीय मालिकाना अभी भी प्रधान बना हुआ है जबकि बहुराष्ट्रीय मालिकाना गौण।

जैसे-जैसे बहुराष्ट्रीय/राष्ट्रपारी निगमों -बैंकों के रूप में इजारेदार पूंजी का आकार बढ़ता गया है वैसे - वैसे वित्त पूंजी के निर्यात की मात्रा भी बढ़ती गई है। बल्कि कहा जाय तो लेनिन के जमाने में वित्त पूंजी के निर्यात की जो प्रवृत्ति शुरू हुयी थी उसने अब जीवंत वास्तविकता का रूप ग्रहण कर लिया है। अब केवल प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश ही सकल वैश्विक उत्पाद के तीन प्रतिशत से अधिक हो गया है। शेरों और बांडों में निवेश, कर्ज और 'सहायता', विकास परियोजनाओं के लिए मदद इत्यादि को जोड़ दिया जाय तो साम्राज्यवादियों द्वारा किया जा रहा कुल पूंजी निर्यात विशाल स्तर पर जा पहुंचता है।

वित्त पूंजी के इस निर्यात ने पूंजीवादी उत्पादन के तरीके में भी कुछ बदलाव लाये हैं। सबसे पहली चीज तो यह हुयी है कि कच्चे माल के स्रोतों के नजदीक रहने और सस्ते श्रम की तलाश में साम्राज्यवादियों ने श्रम की सघनता वाले कुछ उद्योग तीसरी दुनिया के देशों में, खासकर अर्ध-औद्योगीकृत देशों में स्थानांतरित किये हैं। इसमें विकसित पूंजीवादी देशों से प्रदूषण फैलाने वाले उद्योगों को दूर पिछड़े देशों में ढकेलने की उनकी इच्छा ने भी अपनी भूमिका निभाई है। इसके अलावा कुछ पुराने भारी उद्योगों से भी साम्राज्यवादी देश छुटकारा पाने चाहते हैं। इस प्रक्रिया के चलते अनचाहे ही सही, तीसरी दुनिया के देशों की अपनी जरूरतों से अलग या प्रतिकूल ही सही, इनका औद्योगीकरण एक हद तक बढ़ा है।

दूसरी चीज हुयी है उत्पादन का विकेन्द्रीकरण। आज कई बहुराष्ट्रीय निगम अपने किसी उत्पादन के सभी कल-पुर्जों का एक ही देश में निर्माण कर वहीं उन्हें जोड़ने के बदले कर यह रहे हैं कि वे विभिन्न कल-पुर्जों या हिस्सों का उन देशों में निर्माण कर रहे हैं या करवा रहे हैं जहां वह सबसे सस्ता और अच्छा पड़ रहा है। उसके बाद वे एक जगह उसकी असेम्बली करवा रहे हैं। अक्सर तो यह भी हो रहा है कि किसी एक जगह असेम्बली करवा कर सारी दुनिया में बेचने के बदले उसे उसी देश में असेम्बल करवाया जा रहा है जहां उसे बेचना है। सारी दुनिया के विभिन्न हिस्सों में निर्मित हो रहे कल-पुर्जे वहीं मंगवा लिए जाते हैं। आधुनिक कार उद्योग इसका प्रतिनिधिक उदाहरण है। ये सारी प्रक्रियाएँ चूंकि एक ही निगम करते हैं इसलिए वे सभी जगह उपलब्ध भांति -भांति की सुविधाओं और लाभों का इस्तेमाल कर लेते हैं। यह उनकी उत्पादन लागत कम कर देता है और मुनाफा बढ़ा देता है। इस प्रक्रिया के चलते अलग-अलग देशों के खातों में दर्ज होने वाला आयात - निर्यात वस्तुतः फर्जी होता है और वह महज इन निगमों का आंतरिक आयात-निर्यात होता है।

इसी से जुड़ी एक और चीज है 'आऊट सोर्सिंग'। इसमें कम्पनियां कल पुर्जों का निर्माण खुद करने के बदले उसे छोटे-छोटे ठेकेदारों से करवाती हैं और खुद महज उसकी गुणवत्ता परख कर उसका इस्तेमाल कर लेती हैं। इससे छोटे-मोटे उद्यमी स्वतंत्र उद्यमी न रहकर महज बहुराष्ट्रीय निगमों के पुर्जों के आपूर्तिकर्ता बनकर रह

जाते हैं। छोटे और मध्यम उद्यमियों के बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ एकता का उनकी साम्राज्यवाद परस्ती का यह बहुत मजबूत आधार है। उत्पादन की हर शाखा में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का दखल बढ़ने के साथ यह प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। कुछ मामलों में तो 'आऊट सोर्सिंग' अपनी चरम सीमा तक पहुंच गई है। नाइक कम्पनी की अपनी कोई निर्माण इकाई नहीं है हालांकि वह दुनिया की बहुत बड़ी जूता निर्माता कम्पनी है। हिस्सों से लेकर अंतिम उत्पाद तक वह सारा काम ठेकेदारों से अपनी डिजाइन के हिसाब से करवाती है और अंत में गुणवत्ता परखकर अपने ब्रांड का ठप्पा लगा कर बेच देती है।

इस तरह बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से पूंजी के निर्यात के जरिये पूंजीवादी उत्पादन का एक हद तक दुनिया के पैमाने पर विकेन्द्रीकरण बढ़ा है। इससे पूरी दुनिया के पैमाने पर श्रम का विभाजन बढ़ा है। यह प्रक्रिया नयी नहीं है बस इस श्रम विभाजन का स्तर बढ़ा है। इस वैश्विक श्रम विभाजन के जरिये बहुराष्ट्रीय निगमों की श्रम के मुकाबले हाल-फिलहाल ताकत बढ़ी है। अब वे अपने उत्पाद के लिए किसी एक देश या एक प्लांट पर निर्भर नहीं हैं। वे उसकी आपूर्ति दूसरी जगह से भी कर सकते हैं और इस तरह श्रम को छका सकते हैं। लेकिन इस वैश्विक श्रम विभाजन ने सर्वहारा की अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर सहज एकता का आधार भी पैदा किया है। 'दुनिया के मजदूरों, एक हो' के नारे की गुरुता और अर्थवत्ता खुद-ब-खुद बढ़ गई है।

हालांकि यह सब अभी उभरती प्रवृत्ति है लेकिन आने वाले दिनों में यह और ज्यादा बढ़ेगी। उत्पादन का विकेन्द्रीकरण तथा वैश्विक श्रम विभाजन और अधिक बढ़ेगा। यह सब वस्तुगत तौर पर पूरी दुनिया को कम्प्युनिज्म के और नजदीक ले जायगा।

बहुराष्ट्रीय/राष्ट्रपारी निगमों की इजारेदार पूंजी की इस गति को और ज्यादा सुगम बनाया है नयी वैज्ञानिक और तकनीकी क्रांति ने। यह क्रांति कम्प्यूटर, संचार के क्षेत्र में हो रही है। यह अभी भी लगातार बढ़ती गति से जारी है।

इस नयी वैज्ञानिक और तकनीकी क्रांति ने खुद-ब-खुद जिन नये औद्योगिक क्षेत्रों को जन्म दिया है वे अपने आप में वैश्विक पूंजी के लिए कोई बहुत मायने नहीं रखते। वे वैश्विक पूंजी की संचय की समस्या को हल नहीं करते। हालांकि आज नयी अर्थव्यवस्था का बहुत शोर-शराबा है लेकिन यह शेयर बाजार के सट्टेबाजों और दलालों का शोर-शराबा ज्यादा है। कम्प्यूटर, इंटरनेट, दूर संचार इत्यादि से बने इन नये औद्योगिक क्षेत्रों में वह दम नहीं है जो इसके पहले की दोनों तकनीकी क्रांतियों में था। रेलवे और कपड़ा उद्योग की क्रांति जो भाप के इंजन पर आधारित थी तथा आटोमोबाइल व विद्युत क्रांति ऐसी क्रांतियां थीं जिन्होंने पूंजीवादी संचय के लिए नये-नये क्षितिज खोले। न केवल खुद इन उद्योगों में विशाल पैमाने पर पूंजी लगी बल्कि उसने संबन्धित उद्योगों की भी एक के बाद एक श्रृंखलाएं पैदा कीं। इन सबने पूंजीवादी संचय को नये आयाम तक पहुंचाया। आज की कम्प्यूटर और संचार क्रांति में इस तरह का कोई दम नहीं है। यह उद्योगों की नयी नयी शाखाओं को जन्म नहीं दे रही है। यही नहीं, यह बहुत ज्यादा पूंजी गहनता वाले उद्योग भी नहीं हैं। इस तरह 'नयी अर्थव्यवस्था' के हल्ले-गुल्ले के बावजूद यह पूंजी संचय के नये-नये द्वार नहीं खोलेगी तथा साम्राज्यवादी पूंजी की संचय की विकराल समस्या को हल करने में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं करेगी।

इस नयी तकनीकी क्रांति ने असली योगदान पुराने उद्योगों के पुनर्संयोजन में किया है। इसके माध्यम से न केवल कम्प्यूटरीकरण और रोबोटीकरण हो रहा है बल्कि उत्पादन का विकेन्द्रीकरण भी ज्यादा आसान हो जा रहा है। उत्पादन से लेकर वितरण तक सब इससे प्रभावित हो रहे हैं। यह उत्पादन और वितरण सभी को एक नयी

ऊंचाई तक ले जा रही है। निश्चय ही यह सारा कुछ पूंजी के पक्ष में और श्रम के विरोध में हो रहा है, जैसा कि पूंजीवाद में हर तकनीकी क्रांति या विकास में होता है, लेकिन यह हो रहा है।

इसी कम्प्यूटर और संचार क्रांति ने सट्टेबाज पूंजी को भी एक नयी ऊंचाई तक पहुंचा दिया है। जैसे-जैसे वैश्विक पूंजीवादी व्यवस्था का संकट बढ़ता गया है और निवेश के अवसर कम होते गये हैं वैसे-वैसे अधिकाधिक पूंजी सट्टेबाजी की ओर बढ़ती गई है। शेयर बाजार में सट्टेबाजी जैसे पुराने रूपों के अलावा सट्टेबाजी के नये-नये रूप विकसित हुये हैं। ये इतने नये-नये और अजोबोगरीब होते हैं कि अक्सर सट्टेबाजों के अलावा बाकी लोगों को तो इनको समझना भी मुश्किल हो जाता है। आज यह कहना मुश्किल है कि उत्पादन और वितरण में ज्यादा पूंजी लगी हुयी है कि सट्टेबाजी में। आज कुल चलायमान पूंजी (circulating capital) में उत्पादक पूंजी बामुश्किल 5 प्रतिशत है। 1990 के दशक की शुरुआत में मुद्रा व्यापार और वस्तु व्यापार का अनुपात 20:1 का था।

चूंकि यह सट्टेबाजी हवा में उड़ते हुये भी अंततः उसी वित्त व्यवस्था से जुड़ी हुयी है जिससे उत्पादन और वितरण के उद्यम। अतः यह सट्टेबाज पूंजी उनको भी गंभीर खतरे में डाल देती है। पलक झपकते ही इस सट्टेबाज पूंजी का किसी देश से पलायन वहां की मुद्रा समेत समूची वित्त व्यवस्था को चरमरा देता है जो अपनी बारी में मालों के उत्पादन और वितरण को भी अपनी चपेट में ले लेता है। यह किसी देश की वास्तविक अर्थव्यवस्था के दुरुस्त होते हुये भी हो सकता है। बस सट्टेबाज साम्राज्यवादी पूंजी को मुक्त हाथ उपलब्ध होना चाहिये। 1997-98 में दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के साथ यही हुआ।

यह सट्टेबाज साम्राज्यवादी पूंजी तीसरी दुनिया के देशों को खास तौर पर प्रभावित करती है। तीसरी दुनिया के जो भी देश अपनी वित्त व्यवस्था को साम्राज्यवादी वित्त व्यवस्था से एकाकार कर लेते हैं उनके लिए यह सट्टेबाज पूंजी भारी खतरा बन जाती है। यह सट्टेबाज पूंजी किसी भी काल्पनिक या वास्तविक कारण से उस देश से पलायन कर सकती है और अपने पीछे पूरी अर्थव्यवस्था को ध्वस्त कर सकती है। इसीलिए तीसरी दुनिया की सरकारें इस सट्टेबाज पूंजी के सामने बेबस हो जाती हैं। इससे वे साम्राज्यवादी वित्त व्यवस्था से कुछ हद तक अलगाव करके ही मुक्त हो पाती हैं।

साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्थाओं के आंतरिक संघटन में भी क्रमशः परिवर्तन होता गया है। आज इन अर्थव्यवस्थाओं में कृषि का हिस्सा बहुत कम, पांच प्रतिशत से भी कम हो गया है। औद्योगिक क्षेत्र का हिस्सा भी 15-25 प्रतिशत के आस-पास है। इनके मुकाबले सेवा क्षेत्र का हिस्सा लगभग तीन चौथाई जा पहुंचा है। यह इन अर्थव्यवस्थाओं की बढ़ती उत्पादकता का भी द्योतक है। खुद सेवा क्षेत्र के पहले के गैर-इजारेदार क्षेत्रों का भी पिछले दशकों में तेजी से इजारेदारीकरण हुआ है। आज सेवा क्षेत्र की इजारेदार कम्पनियां सबसे बड़ी इजारेदार कम्पनियों में हैं।

कुल मिलाकर ये ही हैं वे परिवर्तन जो पिछले पचास सालों में वैश्विक पूंजीवाद में हुये हैं। इन्हीं परिवर्तनों को अपने वर्गीय दृष्टिकोण से देखते हुए साम्राज्यवादी वैश्वीकरण का हल्ला मचा रहे हैं। वैसे इस 'वैश्वीकरण' के बारे में यह याद रखना होगा कि पूंजीवादी व्यवस्था का ज्यादा एकीकरण और अंतर्गुफन अभी तक साम्राज्यवादियों का आपस में हुआ है। अभी भी प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश का लगभग 80 प्रतिशत भाग इनका आपस में हो रहा है।

लेकिन ये सारे परिवर्तन इजारेदार पूंजी के संचय के संकट को हल नहीं कर पा रहे हैं। इसके बदले संचय का संकट दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। पूरा साम्राज्यवादी विश्व ही एक तरह के ठहराव का शिकार हो

गया है। ठहराव के इसी आम संकट में मंदी और तेजी का दौर आता-जाता रहता है। साम्राज्यवादियों के सारे नीम-हकीम इस ठहराव के संकट को तोड़ने में नाकामयाब रहे हैं। संकट का अंदाज इस बात से लगाया जा सकता है कि पूरे 1990 के दशक में यूरोपीय देशों में बेरोजगारी की दर दस प्रतिशत के आस-पास बनी रही। कुछ देशों में तो यह बीस प्रतिशत तक जा पहुंची। अमरीकी साम्राज्यवादियों की 'रोजगार विहीन वृद्धि' भी उस समय टांय-टांय फिस्स हो गई जब 2001 में अमरीकी अर्थव्यवस्था फिर मंदी की शिकार हो गई।

संचय के इस संकट से उबरने के लिए साम्राज्यवादियों ने जो एक तरीका अपनाया है वह है सैनिक औद्योगिक प्रतिष्ठानों का विकास करना। हर साम्राज्यवादी देश ने सैनिक-औद्योगिक प्रतिष्ठानों का बड़े पैमाने पर विकास किया है। ये प्रतिष्ठान न केवल इन देशों के शासकों की सामरिक जरूरतें पूरी करते हैं बल्कि वे खुद अपने आप में लक्ष्य बन गए हैं। ये श्रम शक्ति का एक भारी हिस्सा खपाते हैं तथा अपने पूंजीपतियों को अकूत अतिमुनाफा प्रदान करते हैं। इससे पूंजीपतियों और सरकार दोनों की समस्याएं किंचित हल होती हैं। साम्राज्यवादी बड़े पैमाने पर न केवल हथियारों का जखीरा इकट्ठा करते हैं बल्कि वे सारी दुनिया में इन्हें बेचते भी हैं। इससे इनके सैनिक-औद्योगिक प्रतिष्ठान फलते-फूलते रहते हैं। इस तरह के संहारक उद्योगों का फलना - फूलना साम्राज्यवाद की आज की पतनशीलता का सबसे घृणित नमूना है।

यह साम्राज्यवाद लेनिन के जमाने की तरह का ही पतनशील-मरणासन्न पूंजीवाद है। पिछले दशकों में इसकी पतनशीलता के अनेकानेक रूप उजागर हुए हैं। यदि इसके बावजूद यह मरणासन्न पूंजीवाद मरता हुआ नहीं दिखाई दे रहा है, बल्कि हाल-फिलहाल समाजवाद को पछाड़कर तथा नई वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति से लैस होकर और ज्यादा फलता-फूलता दिखाई रहा है तो इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है। सामाजिक व्यवस्था की मरणासन्नता एक दूरगामी प्रवृत्ति होती है, फौरी हालत नहीं। किसी व्यवस्था के मरणासन्न होने का कतई मतलब नहीं है कि वह कुछ क्षणों में स्वतः मर जायेगी। इसका केवल इतना ही अर्थ होता है कि वह व्यवस्था मूलतः जीवन शक्ति खो चुकी है और वह लगातार मृत्यु की ओर बढ़ेगी। लेकिन जब तक उस सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त नहीं कर दिया जाता तब तक वह और कुछ नहीं तो जड़ता के नियम के कारण ही बनी रहेगी। इस बीच पूंजीवाद जैसी व्यवस्था, उत्पादन के इस या उस क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास भी प्रदर्शित कर सकती है। साम्राज्यवाद की मरणासन्नता की थीसिस में यह बात निहित है। यहां यह बात याद रखनी होगी कि सामंतवादी व्यवस्था पतनशील और मरणासन्न हो जाने के बाद भी चार-पांच शताब्दियों तक जिंदा रही। इस बीच पूंजीवादी व्यवस्था के पैदा होने और स्थापित होने के कई असफल प्रयास हुए। एक लम्बे समय और संघर्ष के बाद ही पूंजीवादी व्यवस्था सामंती व्यवस्था को प्रतिस्थापित कर सकी। कम्युनिज्म जैसी एकदम ही भिन्न सामाजिक व्यवस्था - समूचे वर्गीय ऐतिहासिक युग को समाप्त कर वर्ग विहीन सामाजिक व्यवस्था कायम करने के बारे में तो यह बात और भी लागू होती है। साम्राज्यवाद की वर्तमान स्थिति को इसी रूप में देखा जाना चाहिए।

इन देशों में न केवल इजारेदार पूंजी बहुत बड़ी हो गई है बल्कि वह राज्य के साथ घुल-मिल गई है। राज्य न केवल पूंजीपति वर्ग का प्रबन्ध मंडल है बल्कि वह सीधे-सीधे इजारेदार पूंजी के साथ अन्तर्सम्बद्ध हो गया है। इजारेदार पूंजी व राज्य के इस अन्तर्गुम्फन से इन देशों में राजकीय इजारेदार पूंजीवाद का जन्म हुआ है। यह राजकीय इजारेदार पूंजीवाद सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के राजकीय इजारेदार पूंजीवाद से भिन्न है। साम्राज्यवाद के जन्म से ही इन देशों में राजकीय इजारेदार पूंजीवाद की यह प्रवृत्ति बढ़ती गई है। हालत यहां तक पहुंच गई है कि इन देशों के राजनेता अपने यहां की इजारेदार पूंजी के सेल्समैन बन गये हैं।

कुल मिलाकर आज साम्राज्यवादी देशों में उत्पादक शक्तियां बहुत विकसित हो गयी हैं। ये उत्पादक शक्तियां वैश्विक पैमाने पर कार्यरत हैं। सारा विश्व ही इनका कार्यस्थल है। लेकिन उत्पादन सम्बन्ध अभी भी मूलतः राष्ट्रीय सीमाओं में कैद हैं। उत्पादन सम्बन्ध की सबसे मुख्य चीज मालिकाना अभी भी राष्ट्रीय बना हुआ है। उत्पादक शक्तियों का राष्ट्र की सीमाओं से परे निकल जाना और उत्पादन सम्बन्ध का राष्ट्रीय सीमाओं में बने रहना वह अंतर्विरोध है जिसने अतीत में दो विश्व युद्धों—प्रथम और द्वितीय विश्व युद्धों को जन्म दिया था। आज भी यह अंतर्विरोध बना हुआ है और अंतर्साम्राज्यवादी अंतर्विरोधों के रूप में अभिव्यक्त होता रहता है। पूंजीवाद के दायरे में यह अंतर्विरोध तब तक बना रहेगा जब तक एक से ज्यादा राष्ट्र बने रहेंगे।

आज कुछ हद तक मालिकाने का बहुराष्ट्रीयकरण हो रहा है। लेकिन यह प्रवृत्ति अभी भी गौण है। इसीलिए यह अंतर्विरोध अभी भी बना हुआ है।

उत्पादक शक्तियों के वैश्विक पैमाने पर कार्य करने का एक अप्रत्यक्ष परिणाम हुआ है यूरोपीय समुदाय जैसे एकीकरण का उभरना और क्षेत्रीय आर्थिक गठबन्धनों का बनना।

पूंजीवाद ने अपनी पैदाइश के बाद ही सामंती बिखराव और अलगाव को समाप्त किया तथा एक क्षेत्र विशेष को एक सूत्र में बांधकर राष्ट्र का निर्माण किया—एक ऐसा राष्ट्र जो एक राज्य के अधीन था। उस राष्ट्र का अपना ही राज्य। यह पूंजीवाद द्वारा केन्द्रीकरण की प्रक्रिया थी—भिन्न-भिन्न बिन्दुओं के इर्द-गिर्द भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के केन्द्रीकरण की प्रक्रिया।

लेकिन पूंजीवाद की उस प्रक्रिया में उसकी विरोधी चीज भी निहित थी। एक ओर वह जहां राष्ट्रों के रूप में क्षेत्रों का केन्द्रीकरण कर रहा था वहीं दूसरी ओर वह राष्ट्रों के बीच अलगाव को तोड़ भी रहा था। उत्पादक शक्तियों के लगातार विकास के द्वारा वह राष्ट्रीय सीमाओं का उल्लंघन भी कर रहा था। राष्ट्रों को एक दूसरे के ऊपर निर्भर भी बना रहा था।

पूंजीवाद के अभी तक के पूरे दौर में ये दोनों गतियां एक साथ जारी रही हैं। जहां पहले पहली गति प्रधान थी तो बाद में दूसरी गति भी धीरे-धीरे प्रभावशाली बननी शुरू हुयी। हालांकि आज भी राष्ट्रों का अलगाव ही प्रधान है तब भी दूसरी गति भी अधिकाधिक प्रभाव दिखाना शुरू कर रही है।

इस दूसरी गति के दो परिणाम हाल-फिलहाल उभरते दिख रहे हैं। एक है कुछ राष्ट्रों का आपस में विलय की ओर बढ़ना तो दूसरा है कुछ क्षेत्रों का एक केन्द्र के इर्द-गिर्द अधिकाधिक एक सूत्र में बंधते जाना। मूलतः दोनों एक ही प्रक्रिया हैं। एक ज्यादा विकसित है तो दूसरी अपेक्षाकृत अविकसित। पहले का उदाहरण है यूरोपीय समुदाय तो दूसरे का नाफटा क्षेत्र और जापान के इर्द-गिर्द एशिया-प्रशान्त रिम।

यूरोपीय राष्ट्र एक देश में सम्पूर्ण विलय से अभी बहुत दूर हैं। अभी उनके आर्थिक विलय की प्रक्रिया ही धीमे-धीमे आगे बढ़ रही है। पर यह देर-सबेर राजनीतिक विलय की ओर ले जायगी, यदि इसकी विरोधी गति नहीं हावी हुयी तो। इस राजनीतिक एकीकरण की शुरुआत भी हो चुकी है।

यूरोपीय राष्ट्रों का एक देश बनने की ओर बढ़ना पूंजी की वास्तविक गति का आईना है। यह इसलिए भी कि यूरोप ही पूंजीवाद की जन्म स्थली रहा है। पूंजीवाद के जन्म के समय से ही यूरोप आपसी युद्धों का गढ़ रहा है। यूरोप के देशों ने जितनी लड़ाइयां बाहर लड़ी उससे ज्यादा आपस में लड़ीं। दोनों अतिविनाशक विश्व युद्ध यूरोप की धरती पर ही लड़े गये। ये युद्ध क्या थे? ये युद्ध मूलतः वह हथियार थे जिसके माध्यम से पूंजी इनका एकीकरण कर रही थी। इन युद्धों के माध्यम से ही पूरे यूरोप के पैमाने पर सक्रिय उत्पादक शक्तियां राष्ट्रों की

सीमाओं में कैद उत्पादन सम्बन्धों से अपने अंतर्विरोध को हल कर रही थीं। लेकिन हर बार समाधान फौरी होता था क्योंकि अंतर्विरोध अपने मूल में बना रहता था।

पूंजीवाद में इसके अलावा कुछ हो भी नहीं सकता है। पूंजीवाद में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का यह द्वन्द केवल इसी तरह से और वह भी बार-बार के प्रयास के जरिये धीमे-धीमे हल होने की ओर बढ़ सकता है।

इतने सारे युद्धों के कारण यूरोप के पूंजीपति बुद्धिमान नहीं बन गये हैं जो अब और युद्धों से बचने के लिए अपना एकीकरण कर रहे हैं। बल्कि बात उल्टी है। इन युद्धों के कारण ही एकीकरण धीमे-धीमे बढ़ा है। इन युद्धों ने ही यूरोप के एकीकरण को यहां तक पहुंचाया है। और यदि एकीकरण फिर भी नहीं सम्भव हुआ तो एक और युद्ध इसको आगे बढ़ायेगा। यही दूरगामी ऐतिहासिक प्रक्रिया है।

तात्कालिक आर्थिक और राजनीतिक तौर पर देखें तो यूरोप का यह एकीकरण जर्मनी और फ्रांस के पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में यूरोप के पूंजीपतियों द्वारा अपनी पूंजी के समग्र हित में किया जा रहा है। ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील होते हुये भी तात्कालिक आर्थिक और राजनीतिक तौर पर यह एकीकरण प्रतिक्रियावादी है। यह यूरोपीय पूंजी के अपने संचय के संकट से निपटने के लिए और अमरीकी तथा जापानी साम्राज्यवादी पूंजी की प्रतिद्वन्दिता का मुकाबला करने के लिए किया जा रहा है। यह एकीकरण पूर्णतया पूंजी के हित में और पूंजी की शर्तों पर हो रहा है। इस एकीकरण में श्रम के हित नदारद हैं। बल्कि तात्कालिक तौर पर यह एकीकरण श्रम के लिए भारी कठिनाइयां उपस्थित करेगा। उत्पादन के विस्तार और विकेन्द्रीकरण से श्रमिकों की रोजमर्रा की लड़ाई तात्कालिक तौर पर और कठिन हो जायगी। इसी तरह किसी एक देश में संकट के गहन होकर क्रांतिकारी स्थिति तक पहुंच जाने की संभावना भी इस एकीकरण से बहुत कम हो जायगी। इस एकीकरण के बाद पूरे यूरोप के पैमाने का संकट ही क्रांति तक ले जा सकता है। वैसे क्रांति को कठिन बनाते हुये भी यह एक मायने में मामले को आगे बढ़ा देता है। क्रांति के बाद पूरे यूरोप के पैमाने पर समाजवाद का निर्माण तब ज्यादा आसान और कम्युनिज्म तक की यात्रा ज्यादा तीव्र हो जायगी।

लेकिन अभी यह एकीकरण पूर्णता तक पहुंचने से काफी दूर है। हालांकि पिछले पचास सालों में इसमें कदम-दर-कदम बढ़ोत्तरी हुयी है लेकिन तब भी साम्राज्यवादी संकट के तीव्र हो उठने पर इस प्रक्रिया के उलट जाने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। यह देखते हुये कि राजनीतिक तौर पर सभी राष्ट्र अभी भी अलग बने हुये हैं, यह और भी आसान होगा।

अमेरिका के नेतृत्व में नाफ्टा देशों में तथा जापान के नेतृत्व में एशिया प्रशान्त रिम में भी यही प्रक्रिया अत्यन्त क्षीण रूप में शुरू हुई है। फिलहाल तो वे उन दोनों प्रमुख साम्राज्यवादी देशों के प्रभुत्व वाले व्यापार गुट बने हुये हैं। पर क्षेत्रीय एकीकरण की प्रक्रिया भी साथ-साथ चल रही है। लेकिन अभी यह प्रक्रिया इतनी शुरूआत में है कि कोई भी तीव्र प्रतिकूल झटका इसे छिन्न - भिन्न कर सकता है। एशिया-प्रशान्त रिम में तो सारा कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि आने वाले दिनों में चीन किस दिशा में विकास करता है। इसका एक बड़ी आर्थिक ताकत के रूप में उभरना वहां के सारे समीकरणों को नये सिरे से तय करेगा।

आज वैश्विक पूंजी की समग्र गति को विश्व व्यापार संगठन सबसे संघनित रूप में अभिव्यक्त करता है। वैश्विक पूंजी में साम्राज्यवादी पूंजी का कितना प्रभुत्व है, तीसरी दुनिया की पूंजी से इसके रिश्ते क्या हैं, इसने

किस हद तक राष्ट्रों के अपने आर्थिक मामलों को तय करने के अधिकार का अपहरण किया है इत्यादि सभी विश्व व्यापार संगठन में अभिव्यक्त होते हैं।

आज वैश्विक पूंजी में साम्राज्यवादी पूंजी का प्रभुत्व कायम है। इस साम्राज्यवादी पूंजी में अमेरिकी पूंजी नेतृत्व में है जबकि जापानी तथा यूरोपीय पूंजी इसके साथ तीव्र प्रतिद्वन्द्विता में हैं। तीसरी दुनिया की पूंजी इनके सामने कहीं नहीं ठहरती। वे सारे मिलकर ही थोड़ी बहुत ताकत बनते हैं।

वैश्विक पूंजी पर जिस साम्राज्यवादी पूंजी का प्रभुत्व कायम है, वह इजारेदार पूंजी है और इस इजारेदार पूंजी की संस्थागत इकाइयां हैं बहुराष्ट्रीय/ राष्ट्रपारी निगम। इस इजारेदार पूंजी का मालिकाना अभी भी राष्ट्रीय है हालांकि मालिकाने के बहुराष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया भी चल रही है।

विश्व व्यापार संगठन वैश्विक पूंजी की इन्हीं सच्चाइयों को प्रतिबिम्बित करता है। यह अकारण नहीं है कि विश्व व्यापार संगठन व्यापार के बहाने पूंजी की सारी कार्यवाहियों को अपने दायरे में समेटता है जबकि इसका पूर्ववर्ती गैट मूलतः व्यापार से संबंधित था। गैट से विश्व व्यापार संगठन में रूपान्तरण के भी निश्चित ऐतिहासिक आर्थिक अर्थ हैं।

विश्व व्यापार संगठन इजारेदार पूंजी, साम्राज्यवादी पूंजी का अंतर्राष्ट्रीय प्रबन्धक है। साथ ही यह तीसरी दुनिया को लूटने के लिए साम्राज्यवादी पूंजी का संस्थागत, सामूहिक यंत्र है।

विश्व व्यापार संगठन में सभी देशों के लिए समान जगह नहीं है। यह केवल इसी कारण नहीं है कि असमान देशों के लिए समान कानून उनके बीच की असमानता को संस्थागत करता है तथा उसे बढ़ावा देता है। यहां शक्तिशाली देशों के पक्ष में कानून बनाए गये हैं। कुछ नियम सीधे-सीधे शक्तिशाली देशों के पक्ष में और कमजोर देशों के खिलाफ हैं।

पूंजीवाद में आम तौर पर तथा इजारेदार पूंजीवाद में खास तौर पर सब कुछ इससे तय होता है कि किसकी आर्थिक ताकत कितनी है। यदि सब मोटा-मोटी एक जैसे हैं तो उनके बीच के सम्बन्ध मोटा-मोटी समानता के होते हैं और उनके बीच के मामले सबकी राजमंदी होने या न होने से तय होते हैं। पर यदि एक या कुछ इतने शक्तिशाली होते हैं कि बाकी उनके सामने कहीं नहीं ठहरते तो इनकी अपनी इच्छाएं और हित ही बाकी के लिए कानून होते हैं। बाकी को इनके हिसाब से चलना होता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद करीब ढाई दशक तक अमरीकी साम्राज्यवादियों की विश्व पूंजीवाद में यही स्थिति थी। जापान और जर्मनी युद्ध में धूल-धूसरित हो चुके थे जबकि ब्रिटेन और फ्रांस आदि युद्ध की विभीषिका से तबाह थे। ऐसे में अमरीकी साम्राज्यवादियों ने इन साम्राज्यवादियों समेत समूचे विश्व पूंजीवाद पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। चूंकि विश्व पूंजीवाद पर अमेरिका का निर्विवाद प्रभुत्व था अतः उसके अपने हित ही सबके हित थे। बाकी चाह कर भी उसके खिलाफ कुछ नहीं कर सकते थे। उन्हें उसके हिसाब से चलना था। ऐसे में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि तब अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की ब्रेटन वुड्स योजना को अमेरिका ने रद्द कर दिया। यह अमेरिका ही था जिसके विरोध के कारण तब अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन अस्तित्व में नहीं आ सका। उसके बदले उसका स्थानापन्न बेहद कमजोर अस्थाई गैट अस्तित्व में आया।

कारण साफ था। तब निर्विवाद प्रभुत्व होने के कारण अमरीकी साम्राज्यवादी पूंजी ही वैश्विक पूंजी की सारी गति को तय कर रही थी। वही वैश्विक पूंजी का प्रबन्ध कर रही थी, उसके लिए नियम-कानून बना रही थी। क्या स्वर्ण डालर मानक इसका सबसे अच्छा उदाहरण नहीं है? ऐसे में अमरीकी इजारेदार पूंजी क्यों अपने को

बेवजह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन जैसी संस्था में बांधती? क्यों वह अपने ऊपर बेवजह के बन्धन लगाने देती? सबसे बड़ी बात तो यह कि नये आजाद हो रहे देशों को अपने नव-उपनिवेशवादी गिरफ्त में लेकर वह उनके शोषण-उत्पीड़न के मेकेनिज्म को भी तय कर दे रही थी। ऐसे में तब विश्व व्यापार संगठन जैसे किसी संगठन की आवश्यकता नहीं थी।

लेकिन 1970 के दशक से स्थिति बदलने लगी। जापान और यूरोप के अपने पैरों पर खड़े होते ही अमरीका को कड़ी चुनौती मिलने लगी और उसकी प्रभुत्वकारी स्थिति समाप्त होनी शुरू हो गई। इसकी शुरुआत 1971 में स्वर्ण डालर मानक के खत्म होने से हुयी। ऐसी स्थिति में अब विश्व पूंजीवाद में सब कुछ अमरीकी इजारेदार पूंजी के हिसाब से ही नहीं हो सकता था। शक्ति संतुलन बदल रहा था और इसी के तहत सारे समीकरण बदल रहे थे। अब साम्राज्यवादियों के आपसी रिश्तों को तय करने के लिए G-7 अस्तित्व में आ गया। अब विश्व पूंजी की गति अमरीकी इजारेदार पूंजी ही अकेले नहीं तय कर सकती थी। बाकियों को इसमें शामिल करना आवश्यक था। बाकी भी इसमें शामिल हुए अपनी-अपनी हैसियत के हिसाब से। जहां तक तीसरी दुनिया का सवाल है, अमरीकी नव-उपनिवेशवादी गिरफ्त से धीमे-धीमे निकल जाने के कारण अमरीकी इजारेदार पूंजी ही उनके मामले नहीं तय कर सकती थी। दूसरे, इस समय दोनों साम्राज्यवादी महाशक्तियों में तीखी प्रतियोगिता भी चल रही थी जिसका तीसरी दुनिया के देश बखूबी फायदा उठा रहे थे। ऐसे में ये देश जब संकटग्रस्त होकर पश्चिमी साम्राज्यवादियों के पास आने के लिए मजबूर होते तब उनको अपने में समेटने का काम अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक करते थे, जिनका कार्य अब बदल गया था। अब ये मूलतः साम्राज्यवादियों की अपने लिए खड़ी की गई संस्थाएं न होकर मूलतः तीसरी दुनिया को अपने पंजे में जकड़ने की साम्राज्यवादियों की संस्थाओं का रूप ग्रहण करने लगी थीं। कुल मिलाकर हर मायने में यह संक्रमण कालीन दौर था। अमरीकी साम्राज्यवादी पूंजी का प्रभुत्व खत्म हो रहा था और जापानी तथा यूरोपीय पूंजी उभर रही थी। तीसरी दुनिया के देश संकट ग्रस्त हो पश्चिमी साम्राज्यवाद के साथ धीमे-धीमे एकीकरण की ओर बढ़ रहे थे। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक पश्चिमी साम्राज्यवादियों के सामूहिक हथियार में बदलते हुये इन्हें ज्यादा से ज्यादा साम्राज्यवादी व्यवस्था में समेटने का प्रयास कर रहे थे।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि जब गैट की आठवें चक्र की वार्ता 1986 में शुरू हुयी तो साम्राज्यवादी इसके लिए एकदम ही नया ऐजेण्डा लेकर सामने आये। अब यह व्यापार के लिए कोई अस्थायी समझौता वार्ता न होकर पूंजी को समग्र रूप में नियमित करने वाली स्थाई संस्था की स्थापना के लिए वार्ता में परिणत हो गई। इजारेदार पूंजी अब वहां पहुंच गई थी जहां उसे अपने प्रबन्ध के लिए इस तरह की संस्था की जरूरत थी।

चीजें अब एक हद तक नया स्वरूप भी ग्रहण कर चुकी थीं। अमरीकी इजारेदार पूंजी का प्रभुत्व समाप्त हो चुका था हालांकि अपनी आर्थिक और खासकर सामरिक ताकत के कारण उसकी नेतृत्वकारी भूमिका बनी हुयी थी। जापानी और यूरोपीय इजारेदार पूंजी अब काफी कुछ इसकी बराबरी में आ चुकी थीं हालांकि वे अभी भी उससे पीछे थीं। गोर्बाचोव के अवतरण के बाद तीसरी दुनिया की पूंजी का भी वैश्विक पूंजीवाद में एकीकरण तेजी से बढ़ रहा था। 90 के आस-पास ये सब गतियां एक नये धरातल पर पहुंच गईं।

इजारेदार पूंजी के सामने दोनों ही समस्याएं थीं। एक तो किसी एक साम्राज्यवादी पूंजी के प्रभुत्व के अभाव में इसे अपने नियमन का प्रबन्ध करना था। दूसरा, तीसरी दुनिया की पूंजी पर प्रभुत्व के नियमन का भी प्रबन्ध करना था।

तीसरी दुनिया के ज्यादातर देश अब न तो उपनिवेश थे और न नव-उपनिवेश। यानि न तो उन पर किसी साम्राज्यवादी देश का प्रत्यक्ष शासन था और न परोक्ष नियंत्रण। अब ये देश लूटने के लिए सभी साम्राज्यवादी देशों के लिए सुलभ थे। इसके साथ ही ये अधिकाधिक साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में एकाकार भी हो रहे थे। ऐसे में जरूरी था कि कोई ऐसी व्यवस्था कायम की जाय जिससे सभी साम्राज्यवादी देश इनका अपनी पूंजी के हिसाब से दोहन कर सकें। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक इस काम के लिए नाकाफी थे। हालांकि अब ये साम्राज्यवादियों के सामूहिक हथियार के तौर पर काम कर रहे थे लेकिन तब भी ये केवल तीसरी दुनिया को अपने चुंगल में फंसाने (अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष) और शुरूआती कांट-छांट (विश्व बैंक) का ही काम कर रहे थे। इन अर्थव्यवस्थाओं को पूरी तरह साम्राज्यवादी व्यवस्था में जज्ब कर लेने और उनके नियमित संचालन के लिए किसी अन्य ज्यादा व्यापक संस्था की जरूरत थी। और यह संस्था कायम की गई विश्व व्यापार संगठन के रूप में।

पेटी बुर्जुआ लोग चिल्लाते रहे कि निवेश और बौद्धिक सम्पदा इत्यादि के मुद्दों को बेवजह और जबर्दस्ती गैट वार्ताओं में शामिल किया जा रहा है। उनका कहना था कि ये मुद्दे व्यापार से संबंधित नहीं हैं और इसीलिए इन्हें गैट की व्यापार वार्ताओं में शामिल नहीं करना चाहिए। ये भलेमानस यह नहीं देख रहे थे कि यह पहले की तरह सामान्य व्यापार वार्ता नहीं थी। यह तो एक नये चरण में इजारेदार पूंजी की रणनीति थी। वक्त बदल चुका था और बदले वक्त में कुछ किया जाना था। इजारेदार पूंजी ने गैट वार्ताओं को ही अपने लिए मंच बनाया और उसे एक बिल्कुल भिन्न चीज में रूपान्तरित कर दिया। व्यापार का बहाना बनाकर उसने साम्राज्यवादी पूंजी के प्रभुत्व वाली वैश्विक पूंजी के संचालन के लिए अपनी एक मुकम्मल संस्था ही खड़ी कर ली।

विश्व व्यापार संगठन नामक विश्व पूंजीवाद की इस संस्था में साम्राज्यवादी और तीसरी दुनिया की सभी पूंजी अपनी - अपनी ताकत के हिसाब से उपस्थित हैं। विश्व व्यापार संगठन का पूरा ढांचा और उसके सारे नियम कानून प्रथमतः इजारेदार साम्राज्यवादी पूंजी के हिसाब से बनाए गये हैं। इसमें भी अमरीकी इजारेदार पूंजी को वरीयता हासिल है हालांकि यूरोपीय और जापानी पूंजी की स्थिति बहुत ज्यादा विषम नहीं है। दूसरी ओर यह तीसरी दुनिया की पूंजी को दोगुने दर्जे की स्थिति में डाले हुए है। सारे नियम-कानून इस तरह से ढाले गये हैं कि तीसरी दुनिया की पूंजी को और अधिक दबाव में लिया जा सकता है। पिछले दिनों साम्राज्यवादियों द्वारा पर्यावरण और श्रम की स्थिति का मुद्दा उठाकर यही दबाव बनाने का प्रयास किया गया था जिसमें वे एक हद तक कामयाब भी हो गये।

विश्व व्यापार संगठन आज के विश्व पूंजीवाद का ही नहीं इजारेदार, साम्राज्यवादी पूंजी का भी संघनित रूप है। और आज इजारेदार पूंजी का बुनियादी संस्थागत रूप है बहुराष्ट्रीय/राष्ट्रपारी निगम। यह इजारेदार पूंजी अपने मालिकाने और हित में कुछ हद तक बहुराष्ट्रीय हो रही है। विश्व व्यापार संगठन इसे भी बखूबी अभिव्यक्त करता है।

यह आम तौर पर वैश्विक पूंजी के और खास तौर पर इजारेदार पूंजी के सामूहिक हितों को भी अभिव्यक्त करता है। यदि ऐसा नहीं होता तो यह अस्तित्व में ही नहीं आ पाता।

और यहीं राष्ट्र-राज्य का सवाल आ जाता है। साम्राज्यवादियों और कुछ पेट्री बुर्जुआ लोगों द्वारा यह कहा जा रहा है कि वैश्विक पूंजी सभी राष्ट्र-राज्यों का अतिक्रमण कर रही है, यह उनकी संप्रभुता को खत्म कर रही है और कि राष्ट्र-राज्य अब तिरोहण की ओर अग्रसर हैं। पूंजी के वैश्वीकरण ने राष्ट्र-राज्य को फालतू बना दिया है या बनाने को ओर बढ़ रही है।

सच बात यह नहीं है। सच बात यह है कि राष्ट्र-राज्य अब भी बने हुए हैं। वे अब भी दुनिया की आर्थिक और राजनीतिक गति को तय कर रहे हैं। ऐसा नहीं है कि विश्व व्यापार संगठन में बहुराष्ट्रीय/राष्ट्रपारी निगमों के और तीसरी दुनिया की कम्पनियों के लोग बैठते हैं। विश्व व्यापार संगठन में सभी देशों, राष्ट्रों के प्रतिनिधि बैठते हैं। यानि वैश्विक मंच पर सारी पूंजियां अभी भी अपने राष्ट्र-राज्य द्वारा प्रतिनिधित्व की जा रही हैं। यही नहीं, वैश्वीकरण की प्रक्रिया राष्ट्र-राज्य द्वारा ही संचालित की जा रही है, उस राष्ट्र-राज्य के द्वारा जिस पर नियंत्रण उस राष्ट्र के पूंजीपति वर्ग का होता है। जिस दिन वैश्विक पूंजी द्वारा राष्ट्र-राज्य फालतू बना दिये जायेंगे उस दिन ऐसा नहीं होगा। तब सीधे निगमों, कम्पनियों के लोग वहां बैठेंगे, हालांकि यह दिन पूंजीवाद में कभी नहीं आयगा।

राष्ट्रों की संप्रभुता के मामले में यह बात ध्यान रखने की है कि यह सापेक्ष चीज है, निरपेक्ष नहीं। पूंजी और बाजार की शक्तियों ने ही राष्ट्रों को और उनकी संप्रभुता को पैदा किया और उन्होंने हमेशा ही अपने विकास की अवस्था और जरूरतों के अनुरूप इस संप्रभुता की सीमाएं तय कीं। यह उन्होंने एक इकाई और समग्र वैश्विक पूंजी और बाजार के एक हिस्से दोनों के कुल परिणाम के बतौर किया है। आज भी यही बात लागू होती है। आम तौर पर हर जगह लागू होने वाला आवश्यकता और स्वतंत्रता का सिद्धान्त राष्ट्रों की संप्रभुता के बारे में भी लागू होता है कि आवश्यकता की पहचान ही स्वतंत्रता है।

आज उत्पादक शक्तियां संपूर्ण विश्व के पैमाने पर कार्य कर रही हैं। यह दी हुयी आवश्यकता है। राष्ट्रों को यदि अपनी नीतियां तय करनी हैं तो उन्हें इस आवश्यकता को ध्यान में रखना होगा। यह आवश्यकता उनकी स्वतंत्रता को तय करती है। इसी आवश्यकता को पहचान कर ही सारे पूंजीवादी राष्ट्र अपनी पूंजी के हित में अपनी अर्थव्यवस्थाओं का एकीकरण कर रहे हैं। यह एकीकरण राष्ट्र और देश की सरकारें ही कर रही हैं। ऐसे में पूंजी के 'वैश्वीकरण' और राष्ट्रों की संप्रभुता को आमने-सामने रखना मामले को गलत ढंग से प्रस्तुत करना है। यह राष्ट्रों की संप्रभुता को निरपेक्ष मूल्य के रूप में प्रस्तुत करना है।

तब फिर बात क्या है? बात यह है कि सभी राष्ट्रों/देशों ने अपनी - अपनी पूंजी के हित में विश्व व्यापार संगठन में अपनी-अपनी संप्रभुता का एक हिस्सा समर्पित (surrender) किया है। वैसे तो यह आम तौर पर ही होता है कि जब भी कुछ लोग किसी सामूहिक मंच पर आयेंगे तो वे किसी न किसी हद तक अपनी संप्रभुता को वहां समर्पित करेंगे। यदि ऐसा नहीं होगा तो उस मंच का कोई वजूद नहीं होगा। वह सामूहिक मंच अपना वजूद, अपनी 'संप्रभुता' सभी लोगों द्वारा समर्पित की गई 'संप्रभुता' से ही हासिल करता है। विश्व व्यापार संगठन के मामले में भी यही सच है।

यानि देशों - राष्ट्रों की संप्रभुता का क्षरण नहीं हो रहा है। या तो उसका बाकी देशों की संप्रभुता के साथ विलय हो रहा है (यूरोपीय यूनियन के मामले में) या फिर वह सामूहिक मंच पर समर्पित की जा रही है (विश्व व्यापार संगठन के मामले में)।

लेकिन कौन देश/राष्ट्र अपनी कितनी संप्रभुता विश्व व्यापार संगठन में समर्पित कर रहा है, यह उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं है। यह मूलतः उसकी पूंजी की ताकत से तय हो रहा है। जो देश ज्यादा ताकतवर हैं वे बहुत कम संप्रभुता समर्पित कर रहे हैं। बल्कि उनकी अपनी राष्ट्रीय नीतियां ही विश्व व्यापार संगठन की नीतियां बन जा रही हैं। यदि विश्व व्यापार संगठन 1948 में बना होता तो अमरीका अपनी संप्रभुता का किंचित ही हिस्सा समर्पित करता क्योंकि तब अमरीकी पूंजी की गति ही विश्व व्यापार संगठन के नियम होते। आज भी साम्राज्यवादी देशों की जो नीतियां समान हैं वही ज्यादातर विश्व व्यापार संगठन के नियम बनी हैं। जहां उनमें असमानता है, उन्हें लेकर उनके बीच घमासान जारी है। जापान अपने चावल उत्पादकों को रियायत देने की अपनी संप्रभुता नहीं छोड़ना चाहता। लेकिन यही बात तीसरी दुनिया के देशों के बारे में लागू नहीं होती। वे बहुत कमजोर पूंजी के मालिक हैं। उनकी पूंजी की जरूरतें साम्राज्यवादी पूंजी की जरूरतों से काफी भिन्न हैं। ऐसे में उन्हें विश्व व्यापार संगठन में अपनी काफी संप्रभुता समर्पित करनी पड़ी है। वे चाहकर भी बहुत सारे मामलों में अपने मन-माफिक नीतियां नहीं बना सकते।

यानि विश्व व्यापार संगठन के सभी सदस्य देशों ने अपनी संप्रभुता का एक हिस्सा वहां समर्पित किया है। इस हद तक उन्होंने अपनी संप्रभुता छोड़ी है। उनकी संप्रभुता कम हुयी है। लेकिन किसकी कितनी संप्रभुता कम हुयी है यह उसकी पूंजी के हिसाब से तय हो रहा है। शक्तिशाली देशों ने बहुत कम समर्पित की है तो उन्होंने तीसरी दुनिया से काफी ज्यादा समर्पित करवाई है। इसकी कुल मिलाकर नियामक इजारेदार साम्राज्यवादी पूंजी है। उसी ने सारा तय किया है। संप्रभुता नष्ट होने और उन्हें समर्पित करने या छोड़ने में यही फर्क है कि दूसरी अवस्था में उसे वापस लिया जा सकता है या समर्पण में फेर बदल किया जा सकता है। आज भी कोई देश चाहे तो विश्व व्यापार संगठन छोड़ सकता है और वहां समर्पित सारी संप्रभुता वापस पा सकता है। यही नहीं, यदि देशों की आर्थिक हालत में, उनकी पूंजी की ताकत में परिवर्तन होते हैं तो विश्व व्यापार संगठन के नियम-कानून में परिवर्तन हो सकते हैं।

यही चीज इस बात की संभावना बनाये रखती है कि भविष्य में साम्राज्यवादी देशों में तीखी प्रतिद्वन्दिता पैदा होने पर विश्व व्यापार संगठन बिखर जाय। या फिर किसी एक साम्राज्यवादी देश के काफी ज्यादा ताकतवर हो जाने अथवा कुछ महत्वपूर्ण देशों में समाजवादी क्रांति हो जाने पर इसके स्वरूप में आमूल-चूल परिवर्तन आ सकते हैं। तथा कथित समान नियमों से संचालित विश्व व्यापार संगठन अंतरसाम्राज्यवादी अंतर्विरोधों को हल या खत्म नहीं करता। उल्टे ये अंतर्विरोध इसके नियम-कानून, इसके स्वरूप और इसकी समग्र नियति को तय करते हैं। राष्ट्र-राज्य अभी भी पर्याप्त संप्रभुता सम्पन्न हैं।

कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता के क्षरण का सबूत यह है कि वे इजारेदार पूंजी और खासकर अत्याधिक गतिमान सट्टेबाज पूंजी के सामने असहाय हैं। लेकिन यह तो कथन को ही प्रमाण मान लेना हुआ। ये देश सट्टेबाज पूंजी के सामने असहाय इसलिए हैं क्योंकि इन्होंने इजारेदार पूंजी के नियमों को मान लिया है, उसके सामने अपनी आंशिक संप्रभुता का समर्पण कर दिया है (विश्व व्यापार संगठन में शामिल होकर)। यदि वे अभी इस संप्रभुता को वापस लेकर उसे लागू करना शुरू कर दें तो स्थिति बदल जायगी। यदि वे सट्टेबाज पूंजी पर प्रतिबन्ध लगा दें और उसके अनुकूल अन्य नीतियां लागू कर दें तो सट्टेबाज पूंजी कुछ नहीं कर पायगी। हां, ऐसा कर पाना तीसरी दुनिया के शासकों के लिए मुश्किल है क्योंकि उन्होंने विश्व पूंजीवाद में एकीकरण का

रास्ता चुन लिया है। अपने पूंजीवादी विकास के संकटों के चलते उनकी यही नियति भी है। इसका निदान संप्रभुता क्षरण का रोग नहीं बल्कि समाजवाद है।

यहां यह बात नोट करने की है कि जिस हद तक इजारेदार पूंजी का बहुराष्ट्रीय मालिकाना कायम हुआ है उस हद तक विश्व व्यापार संगठन जैसी संस्था का स्थाई आधार भी पैदा हुआ है। यह स्थाई आधार इजारेदार पूंजी के बहुराष्ट्रीय मालिकाने के हित की हिफाजत करता है। लेकिन बहुराष्ट्रीय मालिकाना गौण होने के कारण विश्व व्यापार संगठन के पूरे संचालन और नियति में भी अभी यह स्थाई आधार गौण है। अभी भी ज्यादा आधार अस्थायी है और इजारेदार तथा गैर इजारेदार पूंजी के अस्थायी हितों से तय होता है।

इस तरह विश्व व्यापार संगठन कुल मिलाकर इजारेदार पूंजी के हितों की सेवा करता है। यह इजारेदार पूंजी के हितों का मूर्त संस्थागत रूप है और दुनिया के सारे मेहनत कश अपनी सहज प्रवृत्ति से इसे महसूस करते हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि विश्व व्यापार संगठन का अपनी पैदाइश से ही इतना तीखा विरोध हो रहा है। यह विरोध वास्तव में विश्व इजारेदार पूंजी का विरोध है जो आज सारी दुनिया के मजदूर और अन्य मेहनतकश वर्गों पर कहर ढा रही है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन यही वे तीन सामूहिक यंत्र हैं जिसके माध्यम से साम्राज्यवादी तीसरी दुनिया की लूट का तथा विश्व अतिरिक्त मूल्य विनियोग का प्रबन्ध कर रहे हैं। इसमें इनके लूट के हिस्से को उनकी पूंजी की सापेक्षिक ताकत तथा संपूर्ण शक्ति संतुलन तय करता है।

आज साम्राज्यवादी दुनिया चार हिस्सों में विभाजित है। इनके नेता हैं—अमेरिका, जर्मनी-फ्रांस, जापान तथा रूस। पहले तीन गुट हाल - फिलहाल ज्यादा ताकतवर और प्रभावशाली हैं। रूस अभी सोवियत संघ के पतन के घावों से उबर नहीं सका है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिकी साम्राज्यवाद का साम्राज्यवादी विश्व पर निर्विवाद नेतृत्व और प्रभुत्व कायम हुआ था। युद्ध से तबाह यूरोप और जापान उसे टक्कर देने की स्थिति में नहीं थे। बल्कि युद्ध के बाद के पुनर्निर्माण में उन्हें अमेरिकी सहायता की जरूरत थी।

यह पुनर्निर्माण 1950 व 60 के दशक में हुआ। इस पुनर्निर्माण ने दो दशकों तक पश्चिमी पूंजीवादी दुनिया में अभूतपूर्व वृद्धि को भी जन्म दिया। लेकिन 60 के दशक के अंत तक पुनर्निर्माण के पूरा होते न होते दो चीजें एक साथ हुयीं। एक तो पूंजीवाद का चारित्रिक संकट—मंदी और तेजी का संकट फिर पूरे वेग से लौट आया। यही नहीं, इसने एक दीर्घकालिक ठहराव की प्रवृत्ति का रूप धारण कर लिया जिससे बाहर निकलने के साम्राज्यवादियों के सारे प्रयास विफल हो गये। दूसरे, पुनर्निर्माण के पूरा होने से यूरोप और जापान दोनों अमरीका के सामने प्रतिद्वन्दी बन कर खड़े हो गये। अमरीका का एकछत्र प्रभुत्व टूट गया।

पुनर्निर्माण के दौरान और उसके बाद भी 90 के दशक के शुरू होने तक जापान की विकास दर अमरीका के मुकाबले बहुत तेज थी। कुछ क्षेत्रों, मसलन रोबोटीकरण, इलेक्ट्रॉनिक्स इत्यादि में तो वह उससे आगे भी निकल गया। उसके निगम और बैंक अमरीकी बाजारों में मार करने लगे। ऐसे में उसका अमरीका से टकराव होना लाजिमी था।

इसी तरह यूरोप भी पुनर्निर्माण के बाद काफी ताकतवर हो गया। हालांकि यूरोप के अलग-अलग देश अमेरिका और जापान के मुकाबले नहीं ठहरते थे लेकिन उनकी सामूहिक ताकत काफी ज्यादा बनती थी (आज यूरोपीय समुदाय का सामूहिक सालाना सकल घरेलू उत्पाद अमेरिका के आस-पास है)। इसीलिए उन्होंने इनसे

टक्कर लेने के लिए यूरोपीय एकता का प्रयास करना शुरू किया। इसमें नेतृत्वकारी भूमिका निभाई जर्मनी और फ्रांस ने। अब 2002 में एकीकृत मुद्रा की स्थापना के बाद यह एकता काफी आगे बढ़ चुकी है।

हालांकि अपने अतीत के चलते जापान और जर्मनी की सामरिक ताकत अमेरिका के मुकाबले बहुत कम थी तथा अमेरिका ने अपने प्रभुत्व वाले जमाने से ही यूरोप को नाटो के तहत अपने सैनिक गठबंधन में बांध रखा था, तो भी यह इनकी आपसी प्रतिद्वन्द्विता को किसी तरह नहीं रोक सकता था। हां, यह इस प्रतिद्वन्द्विता के परिणाम को काफी प्रभावित करता था। इन देशों की तीव्र चुनौती के चलते क्रमशः इन देशों पर अमरीकी प्रभुत्व का खात्मा हो गया और वह केवल साम्राज्यवादी विश्व का नेता रह गया। उसके नेतृत्व के पद पर विराजमान रहने का कारण अभी भी सबसे बड़ी आर्थिक ताकत बने रहना तो था ही, साथ ही उसकी अतिविशाल सैनिक क्षमता भी थी। सैनिक क्षमता में उसके मुकाबले केवल सोवियत संघ खड़ा हो सकता था।

1980 के दशक में जैसे-जैसे साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था का संकट बढ़ता गया, वह अधिकाधिक ठहराव का शिकार होती गई, जैसे-जैसे ये चार चीजें भी बढ़ती गईं: दोनों साम्राज्यवादी महाशक्तियों का अंतर्विरोध, पश्चिमी साम्राज्यवादियों के तीनों गुटों के बीच का अंतर्विरोध, साम्राज्यवादी देशों का अपनी जनता पर दबाव तथा तीसरी दुनिया पर दबाव। बाद के समय को इन्हीं के परिणाम ने तय किया।

1980 का दशक खत्म होते-होते सोवियत सामाजिक साम्राज्यवादी खेमे का पराभव हो गया तथा 1991 में स्वयं सोवियत संघ ही बिखर गया। 80 के दशक का 'रीगन हमला' काम आया और शीत युद्ध अमेरिका के पक्ष में खत्म हो गया। जार्ज बुश सीनियर के शब्दों में ईश्वर की दया से वे शीत युद्ध में विजयी हुये। हालांकि अमरीका भी इस युद्ध में क्षत-विक्षत हो गया था पर वह विजयी रहा। सोवियत साम्राज्यवादी खेमे के पतन ने दुनिया के पैमाने पर शक्ति संतुलन को पश्चिमी साम्राज्यवादियों के पक्ष में काफी कुछ बदल दिया। वे आक्रामक हो गये। अमरीका के नेतृत्व में अपनी पहली आक्रामकता उन्होंने इराक के खिलाफ खाड़ी युद्ध में प्रदर्शित की।

लेकिन सोवियत खेमे के पतन के बाद पश्चिमी साम्राज्यवादी खेमे का आपसी अंतर्विरोध और तीव्र हो उठा। ठहराव के संकट के गहराने के साथ इनका अंतर्विरोध तो जैसे ही बढ़ रहा था। अब सोवियत खेमे के पतन के बाद इनको आपस में बांधने वाला कारक भी खत्म हो गया। अब इनके अंतर्विरोध सतह पर आ गये और खुल कर काम करने लगे। हालांकि ये अंतर्विरोध अभी तक आर्थिक दायरे में ही सीमित थे, लेकिन जर्मनी और जापान द्वारा अपनी सैनिक क्षमता बढ़ाने तथा जर्मनी व फ्रांस द्वारा नाटो से अलग यूरोपीय सैनिक क्षमता विकसित करने के प्रयास में भी इन्होंने अभिव्यक्ति पायी। आर्थिक अंतर्विरोध तो इतने तीखे थे कि इनकी टकराहटों के कारण गैट के आठवें चक्र की वार्ता 8 सालों तक खिंचती रही।

इजारेदार पूंजी ने अपने ठहराव के संकट से उबरने के लिए एक और रास्ता अख्तियार किया। उसने राष्ट्रीय आय में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए और श्रम का हिस्सा कम करने के लिए श्रम के खिलाफ जेहाद बोल दिया। इस जेहाद के दो वीर नायक थे रोनाल्ड रीगन और मारग्रेट थैचर। इन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कायम किये गये कल्याणकारी राज्य पर प्रहार करना शुरू कर दिया। ये कल्याणकारी राज्य तीस के दशक की महान मंदी के, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की दो दशकों की अभूतपूर्व तेजी के, समाजवादी देशों (और बाद में पूर्वी यूरोप व सोवियत संघ के छद्म समाजवादी देशों) की जनता को प्राप्त अधिकार के दबाव के तथा खुद इन देशों में मजदूरों के संघर्ष के मिले-जुले परिणाम थे। 70 के दशक का अंत होते-होते ये सारे कारक या तो पुराने पड़ चुके थे या तिरोहित हो चुके थे। मसलन तीस के दशक की मंदी की विभीषिका भूली जा चुकी थी और मजदूर आंदोलन

लगभग ठप्प पड़ चुके थे। ऐसे में पूंजी ने श्रम पर धावा बोल दिया। अमेरिका और इंग्लैण्ड से शुरू करके सभी देश एक-एक कर इसी रास्ते पर चलने लगे। सोवियत खेमे के पतन के बाद तो बचे-खुचे देश भी उदारीकरण के राग दिन-रात अलापने लगे। राष्ट्रीय आय में श्रम का हिस्सा हजारों तरीकों से कम किया जाने लगा तथा पूंजी का हिस्सा बढ़ाया जाने लगा। वैसे एक रूप में कहा जाय तो यह इन देशों के मजदूर वर्ग को उसके दशकों के सुधारवाद का और फिर निष्क्रियता का दंड था।

देश के भीतर श्रम पर आक्रमण करने के साथ इजारेदार पूंजी ने देश के बाहर तीसरी दुनिया पर भी हमला बोल दिया। उन्हें तरह-तरह से अपने चंगुल में फंसाकर वह उनका अपने साथ एकीकरण करने लगी। सोवियत खेमे के पतन के बाद तो जैसे उसे मुंह-मांगी मुराद मिल गयी। वह तीसरी दुनिया की पूंजी पर हावी हो गई।

इस पूरी प्रक्रिया का परिणाम यह निकला कि साम्राज्यवाद 90 के दशक में पहले से मजबूत हो गया और पूरी दुनिया के पैमाने पर पहले से ज्यादा हावी हो गया।

साम्राज्यवाद को कमजोर करने वाले कारक हैं: समाजवाद, साम्राज्यवादी देशों में सर्वहारा के आंदोलन, राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष, साम्राज्यवादी देशों का आंतरिक संकट और अंतरसाम्राज्यवादी अंतर्विरोध। साम्राज्यवाद को मजबूत करने वाले कारक हैं—: वित्तीय पूंजी की बढ़ती ताकत और नये साम्राज्यवादी देशों का पैदा होना या पुरानों का मजबूत होना। साम्राज्यवाद को कमजोर करने वाले कारकों में से पहले दो को 70 व 80 के दशक में काफी धक्का लगा। एक करारा झटका तो 1956 में लग चुका था। राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का दौर पूरा होने के साथ और तीसरी दुनिया के देशों के साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में एकीकरण के साथ यह कारक भी प्रभावशून्य हो गया या साम्राज्यवादियों के पक्ष में हल हो गया। साम्राज्यवादी देशों का संकट जरूर कुछ बढ़ा तथा एक साम्राज्यवादी शक्ति तो ध्वस्त ही हो गई। उसके कारण साम्राज्यवाद कमजोर पड़ा। इसी तरह जापानी और पश्चिमी यूरोपीय साम्राज्यवादियों की बढ़ती आपसी प्रतियोगिता ने भी इसे कमजोर करने में मदद की। लेकिन इस बीच सोवियत साम्राज्यवाद की अमरीकी खेमे से तीखी प्रतियोगिता की समाप्ति ने साम्राज्यवाद को काफी मजबूत किया। जहां तक साम्राज्यवाद को मजबूत करने वाले दोनों कारकों का सम्बन्ध है, दोनों ही बढ़े। इजारेदार वित्तीय पूंजी तेजी से बढ़ी। दैत्याकार बहुराष्ट्रीय/राष्ट्रपारी निगम और ज्यादा दैत्याकार होते चले गये। जापानी और यूरोपीय साम्राज्यवादी द्वितीय विश्व युद्ध की तबाही से इस बीच उबर गये और नये सिरे से साम्राज्यवादी लूट में भाग लेने लगे।

उपरोक्त सारे कारकों का कुल परिणाम यह हुआ कि साम्राज्यवाद 90 के दशक में उसके पहले के मुकाबले ज्यादा मजबूत और हावी हो गया। अपने बीच की तीखी प्रतिद्वन्दिता को हाल-फिलहाल एक सीमित दायरे में समेट कर वह अपनी ही जनता और तीसरी दुनिया की जनता पर टूट पड़ा। यह साम्राज्यवाद आज भी परजीवी, पतनशील, मरणासन्न पूंजीवाद है तथा उसका दूरगामी पराभव धीमे-धीमे जारी है पर हाल-फिलहाल संभल कर वह दुनिया की जनता पर नये सिरे से हावी हो गया है। लेकिन हावी होकर भी यह उपनिवेश या नव-उपनिवेश के जमाने की स्थिति तक नहीं पहुंच सकता।

इस आक्रामक स्थिति में साम्राज्यवाद ने तीसरी दुनिया के देशों पर अपना शिकंजा कसना शुरू कर दिया। जो देश स्वेच्छा से झुकने को तैयार थे, उनकी कोई दिक्कत नहीं थी। लेकिन जो देश झुकने को तैयार नहीं थे, साम्राज्यवाद ने उन्हें तरह-तरह से घेरना शुरू कर दिया। उत्तरी कोरिया, क्यूबा, लीबिया, इरान, म्यांमार वगैरह

की शामत आ गई। अपनी 'नयी विश्व व्यवस्था' के तहत इराक को तबाह करके भी साम्राज्यवादी नहीं माने। वे उसके बाद भी उसे झुकाने के लिए उस पर आक्रमण करते रहे।

लेकिन इन देशों का आचरण और साम्राज्यवाद का उनसे सम्बन्ध ही आज की 'नयी विश्व व्यवस्था' या आर्थिक नव-उपनिवेशवाद की व्यवस्था की सही तस्वीर पेश कर देता है। अपने सामने ऊपरी तौर पर कोई महत्वपूर्ण चुनौती (समाजवाद, सर्वहारा आंदोलन या राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष) न होने पर भी साम्राज्यवादी इन 'बिगडैल', 'बदमाश' देशों का कुछ खास नहीं बिगाड़ पा रहे हैं। यदि तीसरी दुनिया के ये देश खुद सद्दाम हुसैन जैसी कोई मूर्खता नहीं कर बैठते तो साम्राज्यवादी चाह कर भी इनके यहां खुला राजनीतिक हस्तक्षेप नहीं कर सकते। वे यहां परोक्ष राजनीतिक नियंत्रण कायम नहीं कर सकते। ज्यादा से ज्यादा वे उन्हें आर्थिक अलगाव में डाल सकते हैं या उनके यहां तोड़-फोड़ की विध्वंसात्मक कार्यवाहियां करवा सकते हैं। बस। इससे आगे वे नहीं जा सकते। वे परमाणु परिसीमन संधि पर हस्ताक्षर करवाने के लिए भारत-पाकिस्तान पर दबाव डालते रहते हैं और ये देश उन्हें ठेंगा दिखाकर परमाणु विस्फोट कर देते हैं। यह इन देशों के शासक वर्गों की राजनीतिक आजादी का सबसे बड़ा उदाहरण है।

लेकिन तब भी इससे इंकार नहीं कि 90 के दशक में हावी होकर साम्राज्यवाद ने तीसरी दुनिया पर अपनी गिरफ्त बढ़ाने की और उन्हें अपनी धौंस में लेने की पूरी कोशिश की है। इसके लिए उसने आंतकवाद विरोध, जनतंत्र, मानवाधिकार, अच्छी शासन-व्यवस्था इत्यादि ढेरों बहानों का इस्तेमाल किया है। यहां तक कि साम्राज्यवादियों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता से तबाह कुछ कमजोर देशों में कानून व्यवस्था कायम करने के नाम पर या मानव संहार रोकने के नाम पर साम्राज्यवादियों ने, खासकर अमरीकी साम्राज्यवादियों ने सीधे सैनिक हस्तक्षेप भी किया है। पिछले दशक भर में इराक, सोमालिया, रवाण्डा, कोसोवो और अफगानिस्तान में ऐसे हस्तक्षेप हो चुके हैं। परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि वे तीखे संकटग्रस्त देशों में ही ऐसा हस्तक्षेप कर सके हैं। आम तौर पर सामान्य जीवन के रास्ते पर चल रहे देशों में ऐसा हस्तक्षेप करने की उनकी हिम्मत नहीं पड़ी है, भले ही वे देश सीधे इन्हें मुंह ही क्यों न चिढ़ा रहे हों। यह सब सैनिक हस्तक्षेप करने की, अपना परोक्ष राजनीतिक नियंत्रण कायम करने की साम्राज्यवादियों की इच्छा और ऐसा न कर पाने की उनकी स्थिति को भली-भांति दर्शाता है।

इस तरह के सैनिक हस्तक्षेप में अपना प्रभुत्व कायम करने की सभी साम्राज्यवादियों की आकांक्षा ही नहीं अभिव्यक्त होती, यह अमरीकी साम्राज्यवादियों की हताशा और किसी भी तरह अपनी वरिष्ठता कायम रखने की उनकी कोशिशों की भी अभिव्यक्ति है। इन सभी हस्तक्षेपों में अमरीकी साम्राज्यवादियों ने नेतृत्व संभाला है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी उनके साथ रहे हैं। हालांकि अक्सर ही बाकी साम्राज्यवादियों ने थोड़ी ना-नुकुर के साथ इनका साथ दिया है, परन्तु ये सारे मुख्यतः अमरीकी साम्राज्यवादियों की कार्यवाहियां रही हैं। अमरीकी साम्राज्यवादी ये सारे अभियान न केवल अपनी पूंजी के हितों की रक्षा के लिए ले रहे हैं बल्कि वे बाकी साम्राज्यवादियों को अपने पीछे लगाये रखने के लिए भी ऐसा कर रहे हैं। इनमें इनका दोहरा उद्देश्य होता है। और बाकी साम्राज्यवादियों के सामने अपनी सामरिक ताकत का जब तब प्रदर्शन करते रहना इनका कोई छोटा लक्ष्य नहीं है।

यह भी गौरतलब है कि अमरीकी साम्राज्यवादियों ने (बाकी साम्राज्यवादियों ने भी) इन सैनिक हस्तक्षेपों के लिए नयी सामरिक रणनीति तैयार की है जिससे उनके सैनिकों की मौत कम से कम हो। इस मामले में उन्होंने वियतनाम युद्ध से सबक लिया है। अब वे अपने सैनिक उतारे बिना दूर से ही राकेटों या बम वर्षक विमानों से देश को तबाह कर देते हैं। उसकी युद्ध की क्षमता ही नहीं आम नागरिक क्षमता भी नष्ट कर देते हैं। इसमें

उन्होंने नयी सैनिक तकनीकी का भरपूर इस्तेमाल किया है। अपने इजारेदार प्रचार तंत्र के माध्यम से वे इन कार्यवाहियों के लिए अपनी जनता में भारी समर्थन जुटाने में भी कामयाब हो जाते हैं।

तथापि वे सामरिक तरीकों का इस्तेमाल करने में एक हद से ज्यादा नहीं जा सकते। यहां तक कि इन कार्यवाहियों के लिए भी उन्हें ढेरों बहानों का और संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्थाओं की सहमति का इस्तेमाल करना पड़ता है।

1970 व 80 के दशक में तीसरी दुनिया के देशों ने दोनों महाशक्तियों के अंतर्विरोधों का इस्तेमाल करके संयुक्त राष्ट्र संघ को अमरीकी साम्राज्यवादियों को छकाने का मंच बना लिया था। इन देशों ने ढेरों बार अमरीकी हित विरोधी प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र आम सभा में पास करवाये। वे अमरीकी साम्राज्यवादियों के पिछे इजराइल के तो पीछे ही पड़ गये थे।

लेकिन अब वह स्थिति नहीं है। 90 के दशक से संयुक्त राष्ट्र संघ सीधे-सीधे अमरीकी व अन्य साम्राज्यवादियों के हितों की पूर्ति वाला मंच बना गया है। 1970 व 80 के दशक में इससे दूर भागने वाला अमरीका अब खुद ही इस मंच की तारीफ करता है। ऐसा नहीं कि वह इसकी बहुत इज्जत करता है। जरूरत पड़ने पर वह अपनी कार्यवाहियां बिना संयुक्त राष्ट्र संघ को बीच में लाये अपनी मर्जी से करता है। लेकिन यह भी इस संस्था के पूर्णतया साम्राज्यवादियों, खासकर अमरीकी साम्राज्यवादियों के हित साधक में तब्दील हो जाने को ही दिखाता है।

साम्राज्यवाद की इसी आक्रामक स्थिति में विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में तीसरी दुनिया का एकीकरण पूरा हुआ है। इसमें हाल-फिलहाल तीसरी दुनिया के शासकों के लिए स्थितियां अपेक्षाकृत विषम हैं। लेकिन ऐसा नहीं है कि ये बदल नहीं सकतीं। साम्राज्यवादियों के आपसी अंतर्विरोधों के ज्यादा उग्र हो उठने पर या कुछ देशों में समाजवादी क्रांति हो जाने पर इनके लिए स्थितियां फिर अनुकूल हो सकती हैं। इनकी सौदेबाजी की क्षमता बढ़ सकती है। हाल की विषम स्थिति में भी वे बीसियों तरीकों से अपनी सौदेबाजी की क्षमता को बढ़ाने का प्रयास करते रहते हैं। इनके द्वारा बनाए जाने वाले क्षेत्रीय संगठन इनके इन्हीं प्रयासों में से एक हैं।

तीसरी दुनिया के शासकों के साम्राज्यवादियों से सम्बन्ध कनिष्ठ साझेदार के हैं। ये सम्बन्ध दलाल व मालिक के सम्बन्ध नहीं है। यही नहीं कि विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में तीसरी दुनिया के शासक पूंजीपति साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग के कनिष्ठ साझेदार हैं बल्कि वे अपने देशों में साम्राज्यवाद के सामाजिक अवलम्ब भी हैं। साम्राज्यवाद आज तीसरी दुनिया के देशों में वहां के शासक पूंजीपति वर्ग के माध्यम से काम कर रहा है। साम्राज्यवाद के तीसरी दुनिया में पहले के सामाजिक अवलम्ब सामन्ती वर्ग और कबीलाई अभिजात अब समाप्त हो गये हैं। उनकी जगह पूंजीपति वर्ग ने ले ली है, समग्र रूप में पूंजीपति वर्ग ने।

इसी पूंजीपति वर्ग के माध्यम से साम्राज्यवादी पूंजी इन देशों में काम कर रही है। यह साम्राज्यवादी पूंजी इन देशों में प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश, शेयर निवेश, सट्टेबाज पूंजी, कर्ज, सहायता इत्यादि कई-कई रूपों में आ रही है। लेकिन इन देशों में इस पूंजी के आगमन का उद्देश्य किसी भी तरह इन देशों का विकास करना नहीं है। उसका एकमात्र उद्देश्य है अतिलाभ कमाना। इन देशों को हजारों तरीकों से निचोड़ लेना। इनमें से कुछ हैं: पूंजी निवेश पर हुये मुनाफे का बाहर ले जाना, तकनीक-पेटेन्ट इत्यादि पर रायल्टी, कर्ज पर सूद, सट्टेबाजी कर मुनाफा कमाना, मुद्राओं में हेर-फेर कर मुनाफा कमाना, व्यापार में ओवर इन्वायसिंग व अंडर इन्वायसिंग, कर छूट के रास्तों का इस्तेमाल इत्यादि। सच्चाई यह है कि आज कुल मिलाकर पूंजी का तीसरी दुनिया की ओर से

साम्राज्यवादी दुनिया की ओर प्रवाह हो रहा है। पिछले दशक में ही तीसरी दुनिया का कर्जा बढ़कर दुगुना हो गया है, मूलधन से ज्यादा चुका देने के बावजूद।

पिछले दो दशकों के एकीकरण के दौरान तीसरी दुनिया के देशों में साम्राज्यवादी पूंजी ने जो निवेश किया है उसका भारी हिस्सा वहां उत्पादक शक्तियों के विकास या उत्पादन के नये साधन खड़ा करने में नहीं किया गया है बल्कि वह वहां पहले से मौजूद उत्पादन के साधनों पर कब्जा जमा लेने के रूप में हुआ है। इसमें इन देशों की सरकारों की 'निजीकरण-वैश्वीकरण' की नीतियों ने इनकी भारी मदद की है।

इजारेदार पूंजी के आगमन के कारण इन देशों की उत्पादक शक्तियों का जो थोड़ा बहुत विकास हुआ भी है वह भी इस इजारेदार पूंजी की कार्यवाही का लक्ष्य नहीं, गौण उत्पाद है। और यह गौण उत्पाद भी बहुत ज्यादा असंतुलित, विकृत और इन देशों की जरूरतों से बेमेल है। वह इजारेदार पूंजी की जरूरतों के हिसाब से हो रहा है। कुल मिलाकर कहा जाय तो इजारेदार पूंजी इन देशों की उत्पादक शक्तियों के विकास में भारी बाधा बनती है। यानि यदि इन देशों में वहां उपलब्ध संसाधनों से विकास किया जाता तो यह विकास बहुत ज्यादा तेज और संतुलित तथा उनकी अपनी जरूरतों के मुताबिक होता। लेकिन ऐसा विकास का मार्ग चुनने की अब इनके पूंजीपतियों से अपेक्षा नहीं की जा सकती। यह तो समाजवाद ही कर सकता है।

इस विकास और इजारेदार पूंजी के साथ इन सम्बन्धों के कारण ये देश अत्यन्त संकट ग्रस्त हैं। इन देशों की महज 15-20 प्रतिशत आबादी ही 'वैश्वीकरण' का फायदा उठाने की स्थिति में है। बाकी लोग बाजार के पूंजीवाद के सम्बन्धों में बंधे होने के बावजूद क्रय शक्ति न होने के कारण बाजार से बाहर हैं। वे हाशिये पर फेंक दिये गये लोग हैं। कई देशों में पिछले दो दशकों में इनके जीवन स्तर में तीखी गिरावट आयी है। इनके मुकाबले इन देशों के शासक वर्ग, अभिजात वर्ग वैश्विक पूंजीपति वर्ग के साथ एकाकार हो रहे हैं, उन्हीं के तरह का जीवन बिता रहे हैं। धीमे-धीमे ये दो भिन्न दुनिया में जीने वाले लोग बनते जा रहे हैं। अभिजात शासक वर्ग राष्ट्र के भीतर राष्ट्र बना कर ऐश कर रहे हैं। बाकी जनता 'निजीकरण-उदारीकरण-वैश्वीकरण' के असहनीय बोझ तले कराह रही है। पूरी दुनिया में अमीरी और गरीबी के बीच खाई लगातार बढ़ रही है। यह साम्राज्यवादी देशों और तीसरी दुनिया के बीच बढ़ रही है तो साथ ही हर देश के भीतर भी बढ़ रही है। इस तरह अमीरी और गरीबी का भी 'वैश्वीकरण' हो रहा है। अमीर और ज्यादा अमीर होते हुए एक ओर हो रहे हैं तो गरीब और ज्यादा गरीब होते हुए दूसरी ओर। बिल गेट्स और इथोपिया के भूखे मरते हुए लोग, दोनों एक ही प्रक्रिया के दो अनिवार्य परिणाम हैं।

साम्राज्यवादियों द्वारा नियंत्रित इस दुनिया में न केवल गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, बदहाली की समस्याएं बनी हुयी हैं बल्कि कुछ नयी समस्याओं ने विकराल रूप धारण किया है। पूंजीवाद की अंधाधुन्ध मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति अब उस सीमा पर पहुंच रही है जहां वह संपूर्ण धरती के पर्यावरण को ही खतरे में डाल दे रही है। और नहीं तो केवल यही एक कारण ही धरती से पूंजीवाद की समाप्ति की आवश्यकता को जाहिर करता है।

विश्व पूंजीवाद के बढ़ते संकट ने राष्ट्रीयता की समस्या नये सिरे से पैदा की है। अभी भी तीसरी दुनिया में ऐसे देश हैं जो नव-औपनिवेशिक उत्पीड़न के शिकार हैं और वे साम्राज्यवाद से अपनी मुक्ति की लड़ाई लड़ रहे हैं। लेकिन इनके अलावा एक भिन्न राष्ट्रीयता की समस्या भी पिछले सालों में पैदा हुयी है या गहराई है। ये राष्ट्रीयता की समस्याएं अंतरराज्यीय (Inter State) समस्याएं नहीं हैं बल्कि अंतःराज्यीय (Intra State) समस्याएं हैं। ये राष्ट्रीयताएं साम्राज्यवाद द्वारा उत्पीड़न की शिकार नहीं हैं बल्कि खुद तीसरी दुनिया के शासक वर्गों द्वारा

ही, उसी राज्य द्वारा ही, जिसके वे अंग हैं, उत्पीड़न की शिकार हैं। यदि साम्राज्यवाद कहीं इसमें शामिल है तो इस राज्य के पीछे से ही। इन राष्ट्रीयताओं को साम्राज्यवाद से नहीं बल्कि अपने राज्यों से मुक्ति चाहिए। राष्ट्रीयता की ये समस्याएं इन देशों के राष्ट्र निर्माण की परियोजना के विकृत तरीके से पूरा होने, पूंजीवाद के गहराते संकट तथा कुछ हद तक साम्राज्यवादियों की साजिशों के परिणाम हैं। राष्ट्रीयता की इन समस्याओं का समाधान अब केवल समाजवादी क्रांतियों के माध्यम से ही हो सकता है। इसके बिना ये इस या उस रूप में बनी रहेंगी। इन राष्ट्रीयताओं की अपनी मुक्ति के संघर्ष समाजवादी क्रांति में सहायक की भूमिका अदा करेंगे। लेकिन राष्ट्रीयता के इन मामलों में धार्मिक कट्टरपंथियों को सख्ती से अलग किया जाना चाहिए। ये किसी भी तरह प्रगतिशील नहीं हैं। ये बेहद प्रतिक्रियावादी शक्तियां हैं। ये जनता की वास्तविक आकांक्षाओं को अपनी प्रतिक्रियावादी आकांक्षाओं को पूरा करने का हथियार बनाती हैं। अक्सर ही ये साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा पालित-पोषित हैं। जहां वे विरोधी भी हैं वहां भी वे एक दूसरे को मजबूत ही बनाते हैं।

साम्राज्यवादी देशों सहित तीसरी दुनिया में भी फासीवादी और धार्मिक कट्टरपंथी शक्तियों का बढ़ना और कहीं-कहीं सत्तारूढ़ हो जाना समूची विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के पतन और सड़ान्ध को ही दिखाता है। इनकी पैदाइश और विकास में साम्राज्यवाद की अक्सर ही प्रत्यक्ष भूमिका रही है। पतनशील, मरणासन्न पूंजीवाद अपने जीवन की रक्षा के लिए इसके सिवा कुछ कर भी नहीं सकता। आज जितनी भी धार्मिक कट्टरपंथी शक्तियां हैं—शांतिवादी और आतंकवादी दोनों—उनको पालने-पोसने में अमरीकी साम्राज्यवादियों की महती भूमिका रही है। ये धार्मिक कट्टरपंथी और फासीवादी शक्तियां जनता की दुश्मन तथा पूंजीवाद की रक्षा पंक्ति हैं। अपने सारे साम्राज्यवाद विरोधी तेवर के बावजूद वे उसी की प्रत्यक्ष-परोक्ष मदद करती हैं। इनका 'राष्ट्रवाद' चौतरफा प्रतिक्रियावादी, सबसे घृणित किस्म का राष्ट्रवाद होता है। समाजवाद की विजय के लिए इनको अलग-थलग करना और ध्वस्त करना आवश्यक होगा। और केवल समाजवाद ही इन्हें नष्ट भी कर सकता है क्योंकि केवल वही इनकी जमीन, पतित पूंजीवाद को खत्म कर सकता है।

लेकिन पूंजीवाद-साम्राज्यवाद को चुनौती देने वाली शक्तियां आज बहुत कमजोर हैं। यही नहीं कि समूचा कम्युनिस्ट आंदोलन वैश्विक पैमाने पर और हर देश में टूट-फूट व बिखराव का शिकार है बल्कि स्वयं मजदूर आंदोलन भी आज पीछे हटने की और पुनर्गठित होने की प्रक्रिया से गुजर रहा है।

कम्युनिस्ट आंदोलन को पहला जबरदस्त धक्का खुश्चेवी संशोधनवाद से लगा था। इस धक्के ने कम्युनिस्ट आंदोलन के एक बड़े हिस्से को संशोधनवाद के दलदल में ढकेल दिया। हालांकि माओ के नेतृत्व में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी और अल्बानिया की लेबर पार्टी ने इस संशोधनवाद के खिलाफ समझौता-विहीन संघर्ष चलाया था परन्तु वे इस भारी क्षति को नहीं बचा सके। इसके बाद जब डेंग संशोधनवादी चीन की पार्टी में हावी हो गये तो कम्युनिस्ट आंदोलन का यह गढ़ भी उनके हाथ से निकल गया।

तब से कम्युनिस्ट आंदोलन पीछे हटने की अवस्था में है। हालांकि पिछले सालों में तीसरी दुनिया के कुछ देशों में कम्युनिस्ट आंदोलन मजबूत हुए हैं पर वैश्विक पैमाने पर एक ताकत के रूप में उभरने से वे बहुत दूर हैं।

पिछले सालों में वैश्विक पैमाने पर कम्युनिस्ट आंदोलन के संयोजन के कुछ प्रयास हुए हैं पर उसके घटक अंशों के अत्यंत कमजोर होने के कारण ये प्रयास अत्यन्त क्षीण और प्रभावहीन ही साबित हुये हैं। तब भी इनका होना ही अपने-आप में शुभ संकेत है।

न केवल कम्युनिस्ट आंदोलन बल्कि मजदूर आंदोलन भी वैश्विक पैमाने पर पीछे हटने व पुनर्गठन की प्रक्रिया से गुजर रहा है। इस मजदूर आंदोलन पर ज्यादातर देशों में संशोधनवादियों या सामाजिक जनवादियों का प्रभाव था। वही नेतृत्व में थे। ये सुधारवादी मजदूर आंदोलन में पूंजीपति वर्ग के एजेन्ट थे। जब तक कल्याणकारी राज्य के तहत पूंजीपति वर्ग मजदूरों के एक हिस्से को सुविधाएं देता रहा, ये फलते-फूलते रहे। लेकिन जब पूंजीपति वर्ग ने श्रम के खिलाफ अपना आक्रमण शुरू किया तो वे इसे झेलने में एकदम नाकाफी साबित हुए। संशोधनवादी कम्युनिस्ट पार्टियां और सामाजिक जनवादी पार्टियां लगातार पीछे हटती गईं तथा उनमें और आम बुर्जुआ पार्टियों में फर्क करना मुश्किल हो गया। इंग्लैण्ड की लेबर पार्टी तथा यूरोप की बाकी सामाजिक जनवादी पार्टियों का यही हथ्र हुआ। कल्याणकारी राज्य के नग्न बुर्जुआ राज्य में रूपान्तरण के समानान्तर इनका भी रूपान्तरण होता गया। ये द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के पूंजी और श्रम के बीच ऐतिहासिक समझौते (compromise) का परिणाम थीं। उसके खात्मे के साथ ही ये भी अपनी प्रासंगिकता खो बैठीं। इनके साथ इनके द्वारा नियंत्रित यूनियनों और मजदूर संगठन भी या तो बिखर गये या अपना प्रभाव खो बैठे। मजदूर आंदोलन पूंजी के आक्रमण के सामने समर्पण करता गया। यही हाल तीसरी दुनिया के देशों में भी हुआ। वहां भी कल्याणकारी राज्य के खात्मे के बाद पुरानी ट्रेड यूनियनों और मजदूर संगठन पूंजी के आक्रमण को झेलने में अक्षम साबित हुए।

साम्राज्यवादी देशों और तीसरी दुनिया दोनों में मजदूरों के बीच एक अभिजात मजदूर तबका पैदा हुआ है। यदि साम्राज्यवादी देशों में उसके पैदा होने की संभावना इजारेदार पूंजी द्वारा कमाये जा रहे अतिलाभ से पैदा होती है तो तीसरी दुनिया में इन देशों का पूंजीपति वर्ग राज्य के द्वारा सचेत तौर पर एक हिस्से को ज्यादा सुविधाएं देकर इन्हें पैदा करता है। इन देशों में कल्याणकारी राज्य का यह भी एक परिणाम था। यह अभिजात मजदूर तबका ही समूचे मजदूर वर्ग के नेतृत्व में काबिज था। ऐसे में इसका बुर्जुआ राज्य के हितों से बंधना आश्चर्य-जनक नहीं है। यही समूचे मजदूर आंदोलन के पतन का कारण भी बना।

पूंजी के आक्रमण से पीछे हटते हुये मजदूर आंदोलन के पुनर्गठित होने और पुनः उठ खड़े होने के कुछ संकेत भी मिल रहे हैं। खासकर पिछले पांच-छः सालों में साम्राज्यवादी देशों में, शानदार मजदूर हड़तालें हुयी हैं। पुरानी यूनियन की कार्य पद्धति से अलग हटकर संगठन करने की भी मिसालें पैदा हो रही हैं। इनको देखते हुए कहा जा सकता है कि मजदूर आंदोलन के दुबारा उठ खड़े होने में अब बहुत देर नहीं है।

लेकिन दोबारा उठ खड़े होते और पुनर्गठित होते मजदूर आंदोलन को तथा उसे नेतृत्व देने वाले कम्युनिस्ट आंदोलन को बुर्जुआ वर्ग द्वारा पालित - पोषित सुधारवादियों की भांति-भांति की किस्मों से मोर्चा लेना होगा। इसमें संशोधनवादियों और सामाजिक जनवादियों का पुराना सुधारवादी खेमा तो है ही साथ ही उत्तर आधुनिकतावादी किस्म के नये सुधारवादी भी इसमें शामिल हो रहे हैं। केवल इन्हें चुनौती देकर और परास्त कर ही मजदूर आंदोलन और कम्युनिस्ट आंदोलन आगे बढ़ सकता है।

लेकिन कम्युनिष्ट आंदोलन को एक और खतरे से भी आगाह रहने की जरूरत है। साम्राज्यवाद-पूंजीवाद के वर्तमान आक्रामक दौर और कम्युनिष्ट आंदोलन के पीछे हटने की स्थिति में इस बात की संभावना मौजूद है कि कुछ लोग निराशा-हताशा का शिकार होकर और धैर्यपूर्वक मजदूर वर्ग को संगठित करने के कठिन चुनौती भरे कार्य से घबराकर वाम- दुस्साहसवादी और आतंकवादी गतिविधियों में लिप्त हो जायं और उसे ही असली क्रांतिकार्य मानने लगें। सुधारवाद और दक्षिणपंथी अवसरवाद के प्रमुख खतरा रहते हुए भी “वामपंथी” दुस्साहसवाद की प्रवृत्ति से भी लड़ना जरूरी होगा।

मजदूर और कम्युनिस्ट आंदोलन को एक और चीज से टकराना होगा। जैसे-जैसे पूंजीवाद का संकट तीखा होता जा रहा है और जनता का असन्तोष बढ़ता जा रहा है वैसे-वैसे साम्राज्यवादी इस असन्तोष को खत्म करने के लिए या जनता के अन्दर विभ्रम पैदा करने के लिए भांति-भांति के तरीके अपना रहे हैं। गैर-सरकारी संगठन परिघटना एक ऐसी ही चीज है। खासकर तीसरी दुनिया में गैर-सरकारी संगठनों की बाढ़ आ गई है। हालांकि सारे गैर-सरकारी संगठन साम्राज्यवाद और देशी पूंजीवाद के एजेन्ट नहीं हैं, पर अधिकांश के बारे में यही बात सच है। बाकी गैर-सरकारी संगठन भी जनता में सुधारवाद का विभ्रम फैलाकर वस्तुगत तौर पर जनता को क्रांति से विमुख कर रहे हैं और पूंजीपति वर्ग की सेवा कर रहे हैं। एक परिघटना के बतौर गैर-सरकारी संगठनों से कम्युनिस्ट आंदोलन को मोर्चा लेना ही होगा और उनके प्रभावों को जनता के बीच से खत्म कर देना होगा।

कुल मिलाकर पिछले दो दशकों में जो आर्थिक नव-औपनिवेशिक दुनिया निर्मित हुयी है उसके प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं :

- ★ लेनिन द्वारा गिनाई गई साम्राज्यवाद की पांच चारित्रिक विशेषताओं में से पहली चार जस की तस लागू होती हैं। लेकिन पांचवीं विशेषता, यानि प्रत्यक्ष उपनिवेश अथवा क्षेत्रीय बंटवारा अब लागू नहीं होती। इतिहास आगे बढ़ गया है।
- ★ प्रत्यक्ष उपनिवेश कि समाप्ति के बाद भी अभी भी साम्राज्यवाद एक ओर थोड़े से साम्राज्यवादी देशों तथा दूसरी ओर उन पर भांति-भांति से निर्भर बाकी देशों की समूची श्रृंखला वाली व्यवस्था है। इस श्रृंखला की कड़ियां न केवल तीसरी दुनिया के देश हैं। बल्कि विकसित किन्तु कमजोर पूंजीवादी देश भी हैं।
- ★ तीसरी दुनिया के अधिकांश देश राजनीतिक तौर पर आजाद हैं। हालांकि साम्राज्यवादी उनकी राजनीतिक आजादी पर लगातार दबाव बनाते रहते हैं, लेकिन यह मूलतः कायम है।
- ★ साम्राज्यवाद को इनको लूटने का, इनके यहां से अतिलाभ कमाने का प्रधान तरीका प्रत्यक्ष राजनीतिक शासन (उपनिवेश) या परोक्ष राजनीतिक नियंत्रण (अर्ध उपनिवेश व नव उपनिवेश) नहीं है, बल्कि आर्थिक है।
- ★ साम्राज्यवाद अपने और इनके बीच उत्पादक शक्तियों के अति विशाल फर्क से इस शोषण को अन्जाम देता है। इसी से यह अतिलाभ कमाता है।
- ★ इस शोषण को नियमित करने के लिए साम्राज्यवादियों ने अपनी सामूहिक संस्थाएँ बना रखी हैं—अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन। इन संस्थाओं में और इनके बाहर साम्राज्यवादियों के बीच तीखी आपसी प्रतिद्वन्द्विता विद्यमान है।
- ★ शोषण का रूप मूलतः आर्थिक होने के बावजूद साम्राज्यवाद तीसरी दुनिया के खिलाफ राजनीतिक और सामरिक तरीकों का इस्तेमाल करने के लगातार प्रयास करता रहता है। खासकर तब जब उसकी व्यवस्था का कोई खुलेआम उल्लंघन करने का प्रयास करता है तो वह तुरंत और निर्णायक कार्यवाही करता है।
- ★ साम्राज्यवाद को आर्थिक नव-उपनिवेशवाद की इस स्थिति में उसकी इच्छा के खिलाफ धकेला गया है। अन्यथा चौतरफा प्रभुत्व—राजनीतिक, सामरिक, आर्थिक सभी -जमाने की उसकी इच्छा जस की तस है।

- ★ इजारेदार पूंजी का चरित्र जस का तस बना हुआ है—प्रभुत्व जमाने की इच्छा वाला। वह तीसरी दुनिया में विकास की मंशा से नहीं, लूट की मंशा से जा रही है। इस लूट से वह प्रधान उत्पाद के तौर पर वहां की जनता की तबाही कर रही है तो गौण उत्पाद के तौर पर विकृत, असंतुलित विकास।
- ★ साम्राज्यवाद द्वारा तीसरी दुनिया की इस लूट में इसके पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद के साथ हैं। वे साम्राज्यवाद के कनिष्ठ साझेदार बन गये हैं और वैश्विक अतिरिक्त मूल्य विनियोग में अपनी पूंजी के हिसाब से अपना हिस्सा बंटते हैं।
- ★ तीसरी दुनिया के पूंजीपति अब इन देशों में साम्राज्यवाद के सामाजिक अवलम्ब बन गये हैं। उन्होंने साम्राज्यवाद के पुराने सामाजिक अवलम्बों सामन्ती वर्ग या कबीलाई अभिजात की जगह ले ली है। लेकिन वे दलाल नहीं कनिष्ठ साझेदार हैं।
- ★ अब तीसरी दुनिया का समूचा पूंजीपति वर्ग प्रतिक्रियावादी हो गया है। उसकी प्रगतिशील भूमिका समाप्त हो गई है।
- ★ अब तीसरी दुनिया के देशों में भी समाजवादी क्रांति एजेण्डे पर आ गई है। जनवादी क्रांति के कार्यभार यहां मूलतः पूरे हो गये हैं।
- ★ राष्ट्रीय मुक्ति के बचे-खुचे कार्यभार अब समाजवादी क्रांति ही पूरे करेगी। राष्ट्रीय मुक्ति की धारा अब विश्व सर्वहारा समाजवादी क्रांति का अभिन्न अंग न होकर उसमें समाहित हो गई है। अब साम्राज्यवाद विरोध पूंजीवाद विरोध का ही हिस्सा हो गया है।

इस आर्थिक नव-औपनिवेशिक दुनिया की वर्तमान स्थिति में शक्तियों का विन्यास और उनका संतुलन इस प्रकार है : इस समय पूरी दुनिया में न तो कोई समाजवादी खेमा है और न कोई समाजवादी देश। साम्राज्यवादी देशों में मजदूर और कम्युनिस्ट आंदोलन इस समय अत्यन्त कमजोर और टूट-फूट बिखराव का शिकार है। यही हाल तीसरी दुनिया के उन अधिकांश देशों में है जो उपनिवेश और नव-उपनिवेश के जुए को उतार फेंक चुके हैं। इनमें मजदूर और कम्युनिस्ट आंदोलन काफी कमजोर है। जिन देशों में राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार अभी बचे हुये हैं उनमें स्थिति अपेक्षाकृत भिन्न है। उनमें से अधिकांश में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष तीखे ढंग से चल रहे हैं। पेरू, फिलीपीन्स और नेपाल में कम्युनिस्टों के नेतृत्व में ये संघर्ष सशस्त्र रूप में चल रहे हैं तो कुर्दिस्तान, कोलम्बिया और फिलीस्तीन इत्यादि में राष्ट्रवादी इसे चला रहे हैं। हालांकि आज की विषम स्थिति में इन संघर्षों के सामने बहुत ज्यादा कठिनाइयां खड़ी हो गयी हैं लेकिन तब भी इनका परिणति तक पहुंचना तय है। यह केवल वक्त की बात है। लेकिन इन देशों के अत्यन्त छोटे होने के कारण इनके संघर्ष विश्व शक्ति संतुलन पर खास प्रभाव नहीं डालते।

विश्वभर में कम्युनिस्ट और मजदूर आंदोलन की अत्यन्त कमजोर स्थिति के चलते सारा शक्ति संतुलन साम्राज्यवादियों और पूंजीपति वर्ग की आपसी प्रतिद्वन्दिता से तय हो रहा है। इसमें साम्राज्यवादियों के विभिन्न धड़ों की प्रतियोगिता प्रमुख है तो तीसरी दुनिया के पूंजीपतियों द्वारा खासकर बड़े देशों द्वारा, इनको मिलने वाली चुनौती भी कुछ हद तक चीजों को तय करती है।

आज साम्राज्यवादी मूलतः चार धड़ों में विभाजित हैं: अमेरिका, यूरोपीय समुदाय, जापान और रूस।

अमेरिका आज भी दुनिया की सबसे बड़ी आर्थिक शक्ति है। आर्थिक एकीकरण के बाद यूरोपीय समुदाय के देश कुल मिलाकर उसके बराबर बैठते हैं। इसके साथ ही अमेरिका दुनिया की सबसे बड़ी सामरिक शक्ति भी है। ये दोनों चीजें मिलकर इसे अभी भी साम्राज्यवादी विश्व का नेता बना देती हैं। इसके साथ ही इसके पास द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से पूंजीवादी दुनिया पर प्रभुत्व की पूरी विरासत भी है। इसीलिए 70 के दशक से शुरू हुये क्रमशः पराभव के बाद भी यह सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति बना हुआ है। आज भी यह दुनिया की मेहनतकश जनता का नंबर एक शत्रु है। खासकर 1990 के दशक की इसकी आक्रामकता ने इसे दुनिया की जनता के सामने अत्यन्त घृणा का पात्र बना दिया है। उनकी नजर में यह एक बौराये हुये कुत्ते की तरह है।

अमरीकी साम्राज्यवादी अपने इस पराभव से वाकिफ हैं। वे इसके कारण को जानते हैं लेकिन वे इसे रोक नहीं सकते। यह उनके वश में नहीं है। इतिहास में इसके पहले भी साम्राज्यवादी शक्तियों का उत्थान और पतन हो चुका है। अपने इस पतन और पराभव की भरपायी करने के लिए अमेरिका नाफ्टा जैसे संगठन बनाकर अपनी स्थिति मजबूत करने का प्रयास कर रहा है। इसी तरह वह नाटो को किसी भी तरह यूरोप में बचाए रखना चाहता है।

अमरीकी साम्राज्यवादियों और उसके गुट को सबसे सशक्त चुनौती दे रहे हैं यूरोप के साम्राज्यवादी। फ्रांस और जर्मनी के नेतृत्व में चल रहे यूरोपीय एकीकरण का प्रमुख लक्ष्य भी यही है। वे सामूहिक तौर पर अमरीकी और जापानी इजारेदार पूंजी का मुकाबला करना चाहते हैं। यूरोपीय आर्थिक यूनियन की सामूहिक आर्थिक ताकत अमेरिका के बराबर है। हालांकि इनकी सामरिक ताकत अभी कमजोर है और नाटो के रूप में अमेरिका इनकी सामरिक क्षमता पर प्रभुत्व जमाए हुए है पर यह देर तक नहीं चल सकता। फ्रांस और जर्मनी इस दिशा में लगातार प्रयासरत भी हैं।

लेकिन यूरोपीय यूनियन भी इतना समांग नहीं है। इसमें फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन में जबर्दस्त अंतर्विरोध हैं। ब्रिटेन तो यूरोपीय यूनियन का अनिच्छुक सदस्य है। वह बाकियों से अलग अमरीकी साम्राज्यवादियों से तालमेल बिठाता रहता है—'विशेष रिश्ते' के नाम पर। पिछले दशक में उसने लगातार अमरीकी साम्राज्यवादियों के लठैत की भूमिका अदा की है। 'यूरोपवादी' फ्रांस और जर्मनी में भी नेतृत्व को लेकर तीखी प्रतिद्वन्दिता है। पूर्वी जर्मनी के विलय के बाद तो जर्मनी की ताकत और भी बढ़ गई है। पूरे बाल्कन क्षेत्र में इसने पिछले दशक भर में जो प्रयास किये हैं (युगोस्लोविया को तोड़ने और उसके बाद के संकट में उसकी भारी भूमिका थी) वह इसके नेतृत्व के लिए जी-तोड़ प्रयास का द्योतक है।

जापान इनमें तीसरे नंबर पर है। हालांकि 1990 के दशक की मंदी के कारण इसका विकास ठहर गया है लेकिन तब भी वह बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति है। इसके बहुराष्ट्रीय /राष्ट्रपारी निगम और खासकर इजारेदार बैंक पूरी दुनिया में अत्यन्त प्रभावशाली हैं। हालांकि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से ही जारी सामरिक प्रतिबंधों के कारण वह सैनिक तौर पर उतना सक्षम नहीं है जितनी उसकी आर्थिक ताकत है लेकिन तब भी यह ताकत कम नहीं है। वह इसको लगातार बढ़ाने का प्रयास भी कर रहा है। वैसे जापान और जर्मनी दोनों की वैज्ञानिक तकनीकी क्षमताओं को देखते हुए इन्हें जरूरत पड़ने पर और तेजी से हथियारबंद होने में, परमाणु हथियार सहित, ज्यादा वक्त नहीं लगेगा। जापानी सेना में अफसरों की संख्या बहुत ज्यादा रखी गई है जिससे जरूरत पड़ने पर सैनिकों की भरती कर उसे तेजी से बढ़ाया जा सके।

इसके अलावा जापान एशिया-प्रशान्त रिम के देशों का अपने साथ आर्थिक एकीकरण कर उन्हें अपने इर्द-गिर्द बांध लेना चाहता है। इन देशों का जापान के साथ एकीकरण अमेरिकी और यूरोपीय साम्राज्यवादियों के सामने उसकी स्थिति को मजबूत बनाने में काफी मदद करता है।

साम्राज्यवादियों का चौथा धड़ा रूस अभी कमजोर है। इसकी वजह सोवियत संघ के बिखरने के बाद से इसका जारी संकट है। लेकिन तब भी इसके सामरिक, खासकर आणविक ताकत को देखते हुए यह एक बड़ी, स्वतंत्र साम्राज्यवादी शक्ति बनता है। एक लम्बे समय तक सुप्त रहने की बाद पुतिन के नेतृत्व में रूस ने पिछले दिनों अपने पंख पसारने शुरू किये हैं। चीन के साथ मिलकर शंघाई सहकार परिषद का गुट बनाना और कोसोवो संकट में इसका हस्तक्षेप इसके मंसूबों का संकेत देते हैं। सोवियत संघ के पहले के घटकों के साथ नये आर्थिक सम्बन्ध सुदृढ़ करने के लिए रूस लगातार प्रयासरत है। यदि यह इसमें सफल होता है तो इसकी ताकत तेजी से बढ़ेगी। इसके बावजूद यह साम्राज्यवादियों के चारों धड़ों में आज सबसे कमजोर है।

ये साम्राज्यवादी गुट अपनी-अपनी इजारेदार पूंजी के लिए विश्व व्यापार संगठन में लगातार संघर्षरत रहते हैं। साथ ही वे बाकी दुनिया में भी विभिन्न संधियों, क्षेत्रीय संगठनों के माध्यम से अपनी-अपनी ताकत बढ़ाने का प्रयास करते रहते हैं।

अपने सारे मामलों के प्रबन्ध के लिए उन्होंने जी-8 का संगठन बना रखा है। एक तरह से यही साम्राज्यवादी दुनिया का प्रबन्ध मण्डल है। लेकिन इसमें भी सबकी स्थिति समान नहीं है। इसमें अमेरिका सबसे ऊपर है तो जापान, जर्मनी और फ्रांस उससे नीचे। उसके भी नीचे इंग्लैण्ड और रूस हैं। कनाडा और इटली सबसे नीचे हैं। यहां भी सम्बन्ध बराबरी के नहीं हैं। साम्राज्यवाद के आम नियमों के अनुरूप यहां भी संबन्ध वरिष्ठता और कनिष्ठता के हैं, श्रेणी विभाजन के हैं। इन आठ के अलावा बाकी साम्राज्यवादी देश भी साम्राज्यवादी व्यवस्था के अंग हैं और उससे लाभान्वित होते हैं। उनमें से कुछ इस तो कुछ उस बड़ी साम्राज्यवादी ताकत के साथ सम्बद्ध हैं तथा उसके प्रभुत्व को स्वीकार करते हैं। यूरोप की कुछ अन्य ताकतें तो यूरोपीय समुदाय में ही जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन से संबद्ध है। हालांकि इनमें से कुछ देश काफी कमजोर हैं तथा तीसरी दुनिया के कुछ बड़े देशों के सामने ठहर नहीं सकते पर साम्राज्यवादी व्यवस्था का अंग होने के कारण वे उसका फायदा उठाते हैं और इस तरह साम्राज्यवादी हैं। प्रकृति और समाज की हर चीज की तरह यहां भी स्पष्ट सीमा रेखा नहीं बल्कि इंद्रधनुषी वर्णक्रम है। दुनिया में एक ओर शीर्ष पर अमरीकी साम्राज्यवाद है तो दूसरी ओर ग्रेनाडा और हैती जैसे देश। लज्जमबर्ग इत्यादि से साम्राज्यवादी देशों की सीमा धुंधली होते-होते पूर्वी यूरोपीय देशों में परिवर्तित हो जाती है जो अपनी बारी में ब्राजील, मेक्सिको, भारत इत्यादि तक जा पहुंचती है।

पूर्वी यूरोप के देशों को लेकर अमेरिका, जर्मनी-फ्रांस और रूस में ठनी हुयी है। हर कोई इनमें से ज्यादा देशों को अपने पक्ष में कर लेना चाहता है। यूरोपीय समुदाय को विस्तारित करने तथा नाटो को विस्तारित करने और न करने को लेकर झगड़े इसी का परिणाम हैं। इसमें परिणाम इन सभी शक्तियों की कुल क्रिया-प्रतिक्रिया से तय हो रहा है।

हर रणनीतिक महत्व की जगह अपनी उपस्थिति बनाने तथा यदि सम्भव हो तो वहां प्रभुत्व कायम कर लेने (जैसे खाड़ी में अमरीका का है) के अपने प्रयास के अलावा ऊर्जा संकट ने भी पिछले दिनों साम्राज्यवादियों को और ज्यादा आक्रामक होने के लिये प्रेरित किया है। अन्य बातों के अलावा इराक, कोसोवो और अफगानिस्तान की लड़ाइयां सीधे तेल से संबंधित हैं। ये जगहें तेल भंडार से समृद्ध स्थानों या तेल भंडारों से निकलने वाली तेल

पाइपों के रास्ते से सम्बन्ध रखती हैं। ये लड़ाइयां लेनिन की इस बात को तीखेपन के साथ साबित करती हैं कि कैसे साम्राज्यवादी कच्चे माल के स्रोतों पर एकाधिकार के लिए मार-काट करते हैं।

साम्राज्यवादी किसी क्षेत्र में अपने प्रभाव को कायम रखने या बनाने के लिए क्षेत्रीय तनाव को बढ़ाने का लगातार प्रयास करते हैं। अरब-इजराइल संघर्ष, इराक-ईरान संघर्ष तथा भारत-पाकिस्तान संघर्ष इत्यादि इसी के उदाहरण हैं। इस संघर्ष में एक पक्ष को सही बताकर या शांति कायम करने के नाम पर उन्हें वहां प्रत्यक्ष या परोक्ष हस्तक्षेप करने का मौका मिल जाता है। फिर संयुक्त राष्ट्र संघ नामक अपनी कठपुतली से वे वहां तथाकथित शांति सेना भिजवाकर अपनी उपस्थिति और प्रभाव का इंतजाम कर लेते हैं। तीसरी दुनिया के कई बड़े देश भी कुछ हिस्सा पा जाने के लालच में इस गह्रित कार्यवाही में शामिल हो जाते हैं।

यह चीज हमें तीसरी दुनिया की क्षेत्रीय ताकतों तक ले आती है। चीन, भारत, ब्राजील, अर्जेंटीना, इरान, इंडोनेशिया तथा दक्षिण अफ्रीका इत्यादि कई सारे ऐसे बड़े ताकतवर देश तीसरी दुनिया में हैं जो अच्छी खासी शक्ति बनते हैं। ये देश भी उसी पूंजीवादी मनोकांक्षा के वशीभूत हैं जिसके साम्राज्यवादी। फर्क केवल यह है कि साम्राज्यवादियों की तरह इनके पास ताकत नहीं है। इनके यहां भी इजारेदार घराने हैं लेकिन वे साम्राज्यवादी इजारेदारियों के सामने ज्यादातर कहीं नहीं ठहरते। इसके बावजूद भारत जैसे बड़े देशों की इजारेदारियों ने अपने से भी पिछड़े या यहां तक कि साम्राज्यवादी देशों में भी पूंजी निवेश की तरफ कदम बढ़ाये हैं। हालांकि यह निवेश साम्राज्यवादी इजारेदार निवेश के मुकाबले कुछ भी नहीं है तब भी यह उभरती हुयी प्रवृत्ति है।

तीसरी दुनिया के इन बड़े देशों ने अपने को क्षेत्रीय ताकत के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है। इन्होंने अपने-अपने क्षेत्रों के बाकी देशों के बाजार पर कब्जे के लिए तरह-तरह के कदम उठाये हैं। राजनीतिक-सामरिक धौंस के साथ-साथ क्षेत्रीय व्यापार या आर्थिक संगठन बनाने के प्रयास इन्होंने किए हैं। क्षेत्रीय ताकत के रूप में उभरने और स्थापित होने से इन्हें साम्राज्यवादियों से भी सौदेबाजी में भारी मदद मिलती है। जो छोटे देश इन क्षेत्रीय ताकतों के प्रभुत्व में हैं उनकी राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई मुख्यतः इन ताकतों के खिलाफ है न कि साम्राज्यवाद के खिलाफ।

चीन तीसरी दुनिया की ऐसी उभरती हुयी क्षेत्रीय ताकत है जो भविष्य में सारी दुनिया के शक्ति समीकरणों को बदल सकती है। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद का स्थाई सदस्य होना उसे इसके लिए अतिरिक्त हथियार प्रदान करेगा।

पूरी दुनिया में विद्यमान इस शक्ति संतुलन में दुनिया के पैमाने पर कार्यरत अंतर्विरोध इस प्रकार हैं। इस समय दुनिया में तीन बुनियादी अंतर्विरोध काम कर रहे हैं:

1. श्रम और पूंजी का अंतर्विरोध
2. साम्राज्यवाद और उत्पीड़ित देशों/राष्ट्रों के बीच का अंतर्विरोध
3. साम्राज्यवादियों के बीच का आपसी और इजारेदारियों के बीच का आपसी अंतर्विरोध

चीन और अल्बानिया में पूंजीवादी पुनर्स्थापना के साथ ही समाजवादी देशों और साम्राज्यवाद का अंतर्विरोध हाल-फिलहाल समाप्त हो गया है।

दुनिया भर में विद्यमान श्रम और पूंजी के अंतर्विरोध के दो हिस्से हैं। एक है, साम्राज्यवादी देशों के भीतर श्रम व पूंजी का अंतर्विरोध। दूसरा है, तीसरी दुनिया के देशों में श्रम और पूंजी का अंतर्विरोध। हालांकि अपनी प्रकृति में दोनों एक ही हैं लेकिन शोषक और शोषित देश का होने के चलते उनकी स्थिति थोड़ी भिन्न हो जाती

है। तीसरी दुनिया में भी श्रम व पूंजी का अंतरविरोध प्रधान हो जाने से आज दुनिया के पैमाने पर श्रम की एकता और समाजवादी आंदोलन का अभूतपूर्व आधार पैदा हुआ है।

साम्राज्यवादी और उत्पीड़ित देशों /राष्ट्रों के बीच के अंतरविरोध के भी दो हिस्से हैं। एक वे देश हैं जो आर्थिक नव-उपनिवेश के दौर में प्रवेश कर चुके हैं। दूसरे वे हैं जो अभी नव-औपनिवेशिक उत्पीड़न के शिकार हैं। जहां पहले में समाजवादी क्रांति करके साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति पायी जा सकती है वहीं दूसरे देशों में से कई में जनवादी क्रांति ही क्रांति की मंजिल होगी। दूसरे किस्म के देशों की संख्या कम है और वे छोटे हैं। ज्यादातर देश पहली ही श्रेणी में आते हैं।

साम्राज्यवादियों के चारों धड़ों और खासकर तीन (अमेरिका, यूरोपीय यूनियन, जापान) में आज तीखी प्रतिद्वन्द्विता विद्यमान है। लेकिन यह प्रतिद्वन्द्विता अभी ज्यादातर आर्थिक क्षेत्र में है और शांतिपूर्ण है। हालांकि क्षेत्रीय युद्धों में प्राक्सि के तौर पर तथा कोसोवो इत्यादि में अप्रत्यक्ष तौर पर इनके बीच सामरिक प्रतिद्वन्द्विता भी चलती है पर अभी वे सीधे-सीधे सामरिक टकराव में नहीं उलझे हुए हैं। इसके बावजूद प्रतिद्वन्द्विता के तीखे होने पर इनके बीच 'सशस्त्र प्रतिद्वन्द्विता' यानि युद्ध भी शुरू हो सकते हैं।

जब तक साम्राज्यवाद-पूंजीवाद है तब तक युद्ध अनिवार्य हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से साम्राज्यवादियों द्वारा इस या उस रूप में छेड़े गये या भड़काए गये युद्धों में दो करोड़ से ज्यादा लोग मारे गये हैं। पिछले दस-बारह सालों में ही साम्राज्यवाद ने खाड़ी, कोसोवो, अफगानिस्तान इत्यादि में बीसियों लाख लोग मारे हैं। इनका यह खूनी अभियान जारी है और साम्राज्यवाद की मौजूदगी तक जारी रहेगा। लेकिन हाल फिलहाल साम्राज्यवादी देशों के बीच युद्ध यानी विश्व युद्ध आसन्न नहीं है।

आज दुनिया के पैमाने पर विद्यमान सभी अंतरविरोधों में श्रम व पूंजी का अंतर्विरोध प्रधान अंतर्विरोध है। हालांकि मजदूर और कम्युनिस्ट आंदोलन आज अत्यन्त कमजोर है तथा पूंजी हावी है तब भी इनके बीच का संघर्ष ही आज दुनिया को गति प्रदान कर रहा है। यही नहीं, इसी अंतर्विरोध के हल होने से ही दुनिया आगे विकास करेगी। दूसरा अंतर्विरोध भी इसी के माध्यम से हल होगा।

पूंजी और श्रम का अंतर्विरोध आज तीसरी दुनिया के देशों में ज्यादा तीखा है। वहीं संकट सबसे गहरा है। समाजवादी क्रांतियों का विस्फोट पहले इन्हीं देशों में होगा। इसके बावजूद साम्राज्यवादी देशों में से भी किसी एक में क्रांति फूट पड़ने की सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता ।

तीसरी दुनिया के देशों में समाजवादी क्रांतियों से साम्राज्यवादियों का यह मोर्चा टूट जायगा। उनको गहरा धक्का लगेगा। इससे साम्राज्यवादी देशों में संकट तीखा हो जायगा। यह संकट अंत में क्रांतिकारी संकट में रूपान्तरित हो जायगा तथा वहां समाजवादी क्रांतियों से साम्राज्यवाद ढह जायगा। मानवता की मुक्ति का दिन नजदीक आ जायगा।

आज सारी क्रांतिकारी शक्तियों को एकजुट करके हमें इसी लक्ष्य पर प्रहार करना है। लेकिन हमें एक चीज को ध्यान में रखना होगा। हम साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांतियों के युग में जी रहे हैं। पर इस समय हाल-फिलहाल पूरी दुनिया में साम्राज्यवाद-पूंजीवाद हावी है। इस साम्राज्यवादी-पूंजीवादी दुनिया का संकट लगातार बढ़ रहा है। मजदूर वर्ग और अन्य मेहनतकश भी इस निजाम के खिलाफ लगातार संघर्षरत हैं। पिछले दशक भर में और खास कर 1990 के दशक के मध्य से ये संघर्ष समूची दुनिया में लगातार बढ़ते गये हैं। लेकिन अभी ये संघर्ष ज्यादातर रक्षात्मक हैं, पहले हासिल की गई जीतों की रक्षा करने के लिए हैं। उनका यह संघर्ष अभी उस

स्थिति में नहीं है कि साम्राज्यवादियों-पूंजीपतियों को पीछे धकेल सके। अभी हम उस क्रांतिकारी संकट की स्थिति में नहीं हैं जब शासकवर्ग पुराने तरीके से शासन करने में अक्षम हो जायं और शासित वर्ग पुराने तरीकों से शासित होने से इंकार कर दें। क्रांति की आत्मगत शक्तियों के कमजोर होने का यह प्रमुख वस्तुगत कारण है। वैश्विक पैमाने पर यह क्रांतिकारी संकट कब आ उपस्थित होगा, यह पहले से नहीं कहा जा सकता। लेकिन क्रांतिकारी शक्तियों को उस दिन के लिए गोलबंद करना, मजदूर वर्ग सहित व्यापक जनता को उस समय के लिए तैयार करना तथा इसके लिए देश और वैश्विक पैमाने पर मजबूत कम्युनिस्ट आंदोलन को संगठित करना आज का हमारा प्रमुख कार्यभार है। हमें यहीं से प्रस्थान करना चाहिए और इस कार्य में दत्त-चित्त होकर लग जाना चाहिए।

राष्ट्रीय परिस्थिति

पिछले एक-डेढ़ दशक में भारत की अर्थव्यवस्था, राजनीति व संस्कृति में बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों ने भारत के सामाजिक यथार्थ में कई नये आयाम जोड़े हैं और ढेर सारी पुरानी बातें अब महत्वहीन होने लगी हैं। इन परिवर्तनों ने भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन के सामने अनेक नये कार्यभार प्रस्तुत किये हैं और ये परिवर्तन ढेर सारे पुराने कार्यभारों को भी प्रभावित कर रहे हैं। इन्हें संज्ञान में लेना, इन्हें समग्रता में नियत कर के भारत की वर्तमान राष्ट्रीय परिस्थिति को परिभाषित करना और तदनु रूप अपनी रणनीति व रणकौशल तय करना हमारी जरूरत है।

आज की नयी परिस्थिति अविच्छिन्न रूप से पुरानी से जुड़ी हुई है और अनेक मामलों में वह पुरानी का ही विकास है। इसमें जो नये तत्व दिखाई दे रहे हैं उनकी जड़ें भी भारतीय समाज में हैं। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति एवं उसमें आ रहे परिवर्तनों ने इन नये तत्वों को विकसित करने में निस्संदेह योगदान दिया है, परन्तु भारतीय समाज की आंतरिक गति ने इन्हें विकसित करने में प्रधान भूमिका अदा की है। ऐसा दृष्टिकोण जो भारत की अर्थव्यवस्था-राजनीति-संस्कृति में हो रहे परिवर्तनों के लिये भूतपूर्व सोवियत खेमे के बिखराव या चीन में पूंजीवादी विपर्यय या ऐसी ही अन्य बाहरी घटनाओं, परिवर्तनों को मूलतः जिम्मेदार मानता है, इतिहास की सतही समझ को अभिव्यक्त करता है और द्वन्दात्मक-भौतिकवाद के एक बुनियादी नियम का निषेध है।

इसके बरक्स वह विश्लेषण जो भारतीय समाज में 90 के दशक के परिवर्तनों को 60 या 70 के दशक के परिवर्तनों की ही श्रेणी में रखता है, इनकी दिशा व चरित्र में कोई भिन्नता नहीं चिन्हित करता है, भी गलत है। ऐसा विश्लेषण नये सत्य को अनदेखा करता है, पुराने का दोहराव है और जड़सूत्रवादी है। यह विश्लेषण न तो

पुरानी परिस्थिति की ही सही व्याख्या करता था और न ही नयी की करता है। इस के अनुसार 1947 से पहले भारत साम्राज्यवादियों का गुलाम था, 1947 से लेकर 1990 के बीच गुलाम रहा और 1990/91 के बाद भी गुलाम है। गुलामी से गुलामी तक के इस सफर में गुलामी के अलग-अलग संस्तरों, समाज की दिशा में उल्लेखनीय मोड़ों/पड़ावों की मौजूदगी को यह विश्लेषण नजरअंदाज करता है। ऐसे में इसके आधार पर 1947 के पहले के कम्युनिस्ट आन्दोलन, 1947 से 1990/91 के दौर के कम्युनिस्ट आंदोलन एवं 1990/91 के बाद के कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिये भारत में लगभग एक ही तरह के कार्यभार-सामंतवाद-विरोधी, साम्राज्यवाद विरोधी कार्यभार-निकलते हैं। इस विश्लेषण के अनुसार मानो भारतीय समाज के लिये पूरी 20 वीं सदी का ही कोई अर्थ न हो, कि जो कार्यभार 19 वीं सदी के अंत में थे लगभग वैसे ही आज 21 वीं सदी में भी हैं।

दुर्भाग्यवश, हमारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन में ये दोनों ही गलत विश्लेषण पद्धतियां एक दूसरे के समानांतर मौजूद हैं। पहली प्रवृत्ति 1990/91 के बाद के भारत की स्थिति को पुनः उपनिवेशीकरण के बतौर परिभाषित करती है, तो दूसरी के हिसाब से यूनियन जैक के काल के बाद से लेकर अब तक भारतीय इतिहास बिना कोई उल्लेखनीय मोड़ लिए एक ही दिशा में आगे बढ़ता जा रहा है। यदि कोई अन्तर आया है तो वह इतना ही कि समाज के मात्रात्मक परिवर्तन की गति कभी तेज रही है तो कभी धीमी। पहली गलत प्रवृत्ति की तुलना में हमारे आन्दोलन में दूसरी का प्रभाव कहीं अधिक है। अधिभूतवाद और जड़सूत्रवाद दोनों ही मार्क्स-लेनिन-माओ के विश्लेषण का तरीका नहीं हैं और हमारे लिये त्याज्य हैं।

भारतीय समाज के वर्तमान को सही-सही समझने के लिये हमें इस समाज में क्रियाशील सभी बुनियादी एवं महत्वपूर्ण अन्तरविरोधों को उनकी गत्यात्मकता एवं उनके आपसी रिश्तों में समझना होगा। इन्हीं की क्रिया-प्रतिक्रिया से भारत का वर्तमान निर्मित हो रहा है और इन्हीं के विकास/ह्रास को सचेत तौर पर प्रभावित करके और बदल कर एक शोषणमुक्त, वर्गविहीन समाज के निर्माण की ओर बढ़ा जा सकता है।

I. भारतीय समाज में अन्तरविरोध

दुनिया के पैमाने पर क्रियाशील सभी बुनियादी अन्तरविरोध भारत में भी कम या ज्यादा आवेग के साथ क्रियाशील हैं। भारतीय समाज में इनके दोनों विरोधी पहलुओं का प्रतिनिधित्व करने वाले वर्ग, धड़े या शक्तियां मौजूद हैं।

पूंजी और श्रम के बीच का अन्तरविरोध भारतीय समाज का एक बुनियादी अन्तरविरोध है। इसकी गति ने भारतीय समाज की अन्तरवस्तु व संरचना को पिछले तीन दशकों में निर्णायक तौर पर प्रभावित किया है। इसके अस्तित्व एवं विकास ने इस दौरान भारत की अर्थव्यवस्था-राजनीति-संस्कृति को सबसे ज्यादा संचालित किया है। इस अन्तरविरोध ने समाज के अन्य सभी बुनियादी, छोटे-बड़े अन्तरविरोधों के विकास को सबसे अधिक प्रभावित किया है। आज भी यह भारतीय समाज का प्रधान अन्तरविरोध बना हुआ है। पूंजी इसका प्रधान पहलू है और श्रम गौण पहलू। यदि भारतीय समाज की उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरविरोध की

बात की जाये तो आज इस अन्तरविरोध की वर्गीय अभिव्यक्ति सबसे तीखे रूप में इसी, पूंजी व श्रम के बुनियादी अन्तरविरोध में हो रही है।

साम्राज्यवाद एवं भारतीय जनता के बीच का अन्तरविरोध भारतीय समाज में दूसरा बुनियादी अन्तरविरोध है। पिछले एक-डेढ़ दशक के दौरान इसकी भूमिका काफी बढ़ी है। परन्तु यह अभी भी भारतीय समाज का प्रधान अन्तरविरोध नहीं है। साम्राज्यवाद इस अन्तरविरोध का प्रधान पहलू है। साम्राज्यवाद के बढ़ते प्रभाव ने प्रधान अन्तरविरोध के प्रधान पहलू पूंजी को मजबूत किया है, जबकि दूसरी ओर पूंजी की मजबूती ने भारत में साम्राज्यवाद के प्रभाव को बढ़ाने में मदद पहुंचायी है। इन दोनों बुनियादी अन्तरविरोधों के इन पहलुओं की सहजीवी गति (Symbiotic motion) ने 90 के दशक में भारतीय समाज में अहम् परिवर्तन किये हैं।

अन्तर साम्राज्यवादी अन्तरविरोध भी भारतीय समाज में एक अन्तरविरोध की हैसियत से विद्यमान रहा है। मगर इसकी भूमिका उतनी नहीं रही है जितनी उक्त दोनों बुनियादी अन्तरविरोधों की और यह अन्तरविरोध अभी भारतीय समाज का बुनियादी अन्तरविरोध नहीं है। 80 के दशक के अन्त एवं 90 के दशक के शुरू में इस अन्तरविरोध की प्रकृति में एक अहम् परिवर्तन आया—तब इस का एक ध्रुव, सोवियत संशोधनवाद विखंडित हो गया। इस विखंडन से उक्त अन्तरविरोध अमरीकी साम्राज्यवाद के पक्ष में हल हो गया और इस बदलाव ने अस्थायी तौर पर इसे साम्राज्यवादियों के बीच तीखी कलह (Contention) की जगह अपेक्षाकृत सांठ-गांठ (Collusion) के चरण में पहुंचा दिया। अन्तर साम्राज्यवादी अन्तरविरोध की प्रकृति में हुए ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन के कारण भारत में अमरीकी व पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों को अपनी भूमिका बढ़ाने का अवसर मिला। साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच की वक्ती सांठ-गांठ ने, अर्थात् इस अन्तरविरोध की तीव्रता में गिरावट ने भारत के भीतर वर्ग शक्तियों के संतुलन में श्रम व भारतीय जनता की सापेक्षिक ताकत को कमजोर किया।

सामान्य अर्थों में यदि बात की जाये तो पिछले एक-डेढ़ दशक में इन तीनों अन्तरविरोधों की गति भारत के मेहनतकश वर्गों के प्रतिकूल रही है। इस दौर में चूंकि दुनिया में समाजवादी देशों और साम्राज्यवादी देशों के बीच का बुनियादी अन्तरविरोध अस्तित्वहीन रहा है, इसलिये भारत के मेहनतकश वर्गों के लिये परिस्थितियां और भी दिक्कततलब रही हैं।

उक्त दोनों बुनियादी अन्तरविरोधों के साथ-साथ अनेक अन्य प्रमुख (major) अन्तरविरोध हैं जो कि भारतीय समाज की समग्र गति व संरचना को निर्धारित करने में अहम् भूमिका निभा रहे हैं।

भारतीय पूंजी (इजारेदार एवं गैर-इजारेदार दोनों) एवं साम्राज्यवाद के बीच का अन्तरविरोध एक ऐसा ही अन्तरविरोध है। 80 के दशक के पूर्वार्ध से यह अन्तरविरोध एक नयी मंजिल में दाखिल होना शुरू हुआ और यह प्रक्रिया 90 के दशक की शुरूआत होते-होते पूरी हो गयी—भारतीय अर्थव्यवस्था पर वर्चस्व के लिये कलह (contention) की स्थिति की जगह साम्राज्यवाद एवं भारतीय पूंजी के बीच सांठ-गांठ (collusion) की अवस्था ने ले ली। भारत में साम्राज्यवादी पूंजी की मौजूदगी 1947 के बाद के काल में लगातार बनी रही है, लेकिन 50 के दशक के मध्य से भारतीय पूंजी एवं साम्राज्यवादी पूंजी के रिश्तों में मुख्य बात भारतीय पूंजी के अपने राष्ट्रीय बाजार पर पूर्ण नियंत्रण के प्रयास रहे हैं जो कि साम्राज्यवाद एवं भारतीय पूंजी के बीच कलह को जन्म देते रहे हैं। यह साम्राज्यवाद से सीमित अलगाव वाली तब की भारतीय अर्थव्यवस्था के भीतर होता रहा है। 80 के दशक के पूर्वार्ध से भारतीय पूंजी ने अपने राष्ट्रीय बाजार पर पूर्ण नियंत्रण की नीति (जो कि कभी भी पूर्ण नहीं रही) ढीली करनी शुरू की और 90 के दशक की शुरूआत में पुराने महलोनिवीस—नेहरू माडल को त्याग कर उसने

साम्राज्यवाद के साथ एकीकरण की अवस्था स्वीकारी है। साम्राज्यवाद के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था का यह एकीकरण एक दूरगामी प्रक्रिया है। साम्राज्यवाद के साथ भारती पूंजी की कलह या सांठ-गांठ अब इस आम एकीकरण के भीतर ही होंगे। वर्तमान में सांठ-गांठ की प्रवृत्ति हावी है। सांठ-गांठ की वर्तमान अवस्था में दाखिल होने के बावजूद यह अन्तरविरोध विद्यमान है और इसकी पूरी सम्भावना है कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में परिवर्तन अथवा राष्ट्रीय परिस्थितियों में परिवर्तनों के साथ ही यह पुनः कलह की अवस्था में आ जाये। ऐसे में इस अन्तरविरोध को अस्तित्वहीन मानना या सांठ-गांठ की अवस्था को स्थाई मानना गलत है।

भारतीय पूंजीपतियों के विभिन्न धड़ों के बीच का अन्तरविरोध एक प्रमुख अन्तरविरोध के बतौर कई रूपों और कई स्तरों पर मौजूद है। यह अन्तरविरोध भारतीय समाज को काफी प्रभावित करता रहा है। इसमें धड़े-बन्दी मूलतः औद्योगिक-शहरी पूंजीपतियों एवं ग्रामीण पूंजीपतियों-कुलकों के बीच होती रही है या फिर केन्द्रीय एवं क्षेत्रीय पूंजीपतियों के बीच होती रही है या फिर इजारेदार एवं गैर-इजारेदार पूंजीपतियों के बीच संरक्षण/लाइसेन्स इत्यादि सवाल पर होती रही है या फिर सार्वजनिक क्षेत्र के विकास अथवा सार्वजनिक क्षेत्र के विनिवेशीकरण से जुड़े सवाल पर होती रही है। योजना आयोग एवं संसद/विधान सभाएं इन संघर्षों के निपटारे के मुख्य स्थल रहे हैं। 50 के दशक में और एक हद तक 60 के दशक में भारतीय शासक वर्गों के बीच का यह अन्तरविरोध एक भिन्न रूप में मौजूद था। तब सामंत-जमींदार भी इस रस्साकशी में एक मुख्य धड़े की हैसियत से मौजूद थे। तब यह महज विभिन्न प्रकार के पूंजीपतियों के बीच का अन्तरविरोध नहीं था। तब इसे भारतीय शासक वर्गों के बीच के अन्तरविरोध के बतौर परिभाषित करना ही ठीक था। परन्तु पूंजीवादी भूस्वामियों व देहाती पूंजीपतियों के उभार एवं परम्परागत सामंतों/जमींदारों के क्रमशः कमजोर पड़ने से इस अन्तरविरोध की प्रकृति में एक अहम् परिवर्तन हुआ और 70 का दशक शुरू होते-होते यह भारतीय पूंजीपतियों के बीच का अन्तरविरोध बन गया। पिछले डेढ़ दशक में इस अन्तरविरोध की गति सार्वजनिक क्षेत्र के इजारेदार नौकरशाह पूंजीपतियों, देहाती पूंजीपतियों एवं गैर-इजारेदार पूंजीपतियों की स्थिति को कमजोर करने वाली और निजी क्षेत्र के इजारेदार पूंजीपतियों के पक्ष में रही है।

सामन्तवाद के अवशेष और व्यापक जनता के बीच का अन्तरविरोध भी भारतीय समाज का प्रमुख अन्तरविरोध है। 40 एवं 50 के दशक में सामन्तवाद और व्यापक जनता के बीच का अन्तरविरोध एक बुनियादी अन्तरविरोध की हैसियत से उस जमाने के घटनाक्रम को निर्धारित कर रहा था। परन्तु आज यह अपनी पुरानी हैसियत खो चुका है और अब हमारे समाज का बुनियादी अन्तरविरोध नहीं रह गया है। अब सामन्तवाद के अवशेष बनाम व्यापक जनता के अन्तरविरोध को एक प्रमुख अन्तरविरोध ही माना जा सकता है। अर्थव्यवस्था एवं राजनीति-संस्कृति दोनों ही क्षेत्रों में यह अपने आप को अभिव्यक्त करता है। अर्थतंत्र की तुलना में पिछड़े पितृसत्तात्मक, धार्मिक, जातीय, अन्य गैर जनवादी मूल्यों के बतौर राजनैतिक — सांस्कृतिक दायरे में इसकी अभिव्यक्तियां ज्यादा सशक्त हैं। भारत की अपूर्ण जनवादी क्रांति के कारण ये सामन्ती अवशेष विद्यमान हैं और बुनियादी अन्तरविरोधों की वर्तमान स्थिति अर्थात् पूंजी एवं साम्राज्यवाद के प्रभुत्व की स्थितियों में यह अन्तरविरोध प्रमुख (major) से छोटे (minor) में संक्रमण कर जाये, इसकी सम्भावनाएं क्षीण ही हैं, हालांकि दूरगामी ऐतिहासिक प्रवृत्ति इसी ओर है।

भारत एक बहु-राष्ट्रीय देश है। इस देश में अनेक राष्ट्रियताएं उत्पीड़ित हैं। इन उत्पीड़ित राष्ट्रियताओं का भारतीय राजसत्ता के साथ अन्तरविरोध आज के भारत का एक प्रमुख अन्तरविरोध है। भारतीय पूंजीवाद के

विकास के साथ यह अन्तरविरोध अस्तित्व में आया है। यह एक पूंजीवादी परिघटना है न कि सामन्ती परिघटना। आज इस अन्तरविरोध का कोई भी ध्रुव न तो सामन्ती विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है न ही सर्वहारा विचारधारा का। इसके दोनों ध्रुवों पर अलग-अलग किस्म की पूंजीवादी विचारधाराएं हैं। इस अन्तरविरोध का समाधान उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं को आत्म-निर्णय का पूर्ण अधिकार (अलग होने की आजादी समेत) देने पर ही हो पायेगा। जब तक पूंजी बनाम श्रम के बुनियादी अन्तरविरोध में पूंजी प्रधान पहलू बनी रहेगी तब तक यह अन्तरविरोध असमाधेय बना रहेगा और भारतीय समाज को गति देता रहेगा। भारतीय राजसत्ता के विरुद्ध विभिन्न उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के संघर्षों के अलावा केन्द्र-प्रान्त सम्बन्धों के विवादों (राज व्यवस्था में संघात्मकता की कमी आदि) में भी यह अन्तरविरोध अभिव्यक्त होता है।

उक्त बुनियादी एवं प्रमुख अन्तरविरोधों के साथ-साथ भारतीय समाज में ऐसे कई महत्वपूर्ण अन्तरविरोध हैं जो तो न क्रांति के दुश्मन वर्गों के बीच के आपसी अन्तरविरोध हैं और न ही क्रांति के दुश्मन वर्गों व क्रांति के मित्र वर्गों के बीच के शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध हैं। ये भारतीय जनता के बीच के गैर-शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध हैं जिन्हें शासक वर्ग अपने वर्ग स्वार्थों में इस्तेमाल करते हैं। इनमें मुख्य हैं विभिन्न जातियों (Caste) के बीच के अन्तरविरोध, विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के बीच के अन्तरविरोध, विभिन्न जनजातियों (tribes) के बीच के अन्तरविरोध, जनजातीय और गैर जनजातीय लोगों के बीच का अन्तर्विरोध पुरुषों व महिलाओं के बीच का अन्तरविरोध, विभिन्न भाषाई व कौमी समूहों के बीच के अन्तरविरोध। अपने मूल गैर-शत्रुतापूर्ण चरित्र के कारण एक श्रेणी में होने के बावजूद इनकी प्रकृति एक जैसी नहीं है। किन्हीं मामलों में इनमें परम्परागत उत्पीड़क व उत्पीड़ित के बीच का भेद बहुत साफ है मसलन 'उच्च' जातियों व दलित जातियों के बीच के रिश्ते या फिर नर-नारी के बीच के रिश्ते में। किन्हीं मामलों में यह भेद उतना स्पष्ट नहीं है मसलन धार्मिक सम्प्रदायों के बीच के रिश्ते में। कुछ धार्मिक सम्प्रदाय बहुत साफ तौर पर उत्पीड़ित हैं परन्तु विरोधी सम्प्रदाय न तो परम्परागत उत्पीड़क हैं और न ही एक सम्प्रदाय की हैसियत से वर्तमान में। किन्हीं मामलों में उत्पीड़ित-उत्पीड़क श्रेणी विभाजन मौजूद नहीं है मसलन भाषाई, कौमी या जनजातीय विवादों में। ये सभी तरह-तरह के बेहद बारीक व जटिल मामले हैं और क्रांति के विकास में बाधाएं पैदा करते हैं। वर्तमान भारतीय समाज के प्रतिक्रियावादी स्वरूप को बनाये रखने के लिये शासक वर्ग इनका भरपूर उपयोग करता है। भारतीय राजनीति व संस्कृति के वर्तमान स्वरूप को निर्मित करने में जनता के बीच के इन गैर-शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोधों की महती भूमिका है।

यदि भारत में मूलाधार (base) व अधिरचना (superstructure) के संदर्भ में बात की जाये तो मूलाधार में पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के विकास की गति की अपेक्षा अधिरचना के राज्येतर (non-state) हिस्सों के पूंजीवादी रूपांतरण की गति अपेक्षाकृत धीमी रही है। अधिरचना के पूंजीवादी रूपांतरण की प्रक्रिया एवं मूलाधार से उसके पिछड़ेपन की बदौलत पैदा होने वाले अन्तरविरोधों की अनेक अभिव्यक्तियां भारतीय जनता के विभिन्न हिस्सों के बीच मौजूदा विवादों/समस्याओं में होती हैं। वैसे सामन्ती अवशेषों एवं व्यापक जनता के बीच का अन्तरविरोध भी मूलाधार व अधिरचना के बीच के अन्तरविरोध की एक अन्य अभिव्यक्ति है।

ऊपर गिनाये गये तमाम अन्तरविरोधों के अलावा ढेरों और भी छोटे अन्तरविरोध हैं। सभी बुनियादी, प्रमुख तथा अन्य छोटे अन्तर्विरोधों की संपूर्ण क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप वर्तमान भारतीय समाज अस्तित्वमान है। भारत की वर्तमान राष्ट्रीय परिस्थिति की वस्तुनिष्ठ समझ हासिल करने के लिये यह जरूरी है कि सभी

अन्तरविरोधों को उनकी गत्यात्मकता एवं अंतः क्रियाओं में ही समझा जाये। राष्ट्रीय परिस्थिति की ऐसी वस्तुनिष्ठ समझ के आधार पर ही हम भारतीय क्रांति की सही रणनीति व रणकौशल निर्धारित कर सकते हैं।

II. मूलाधार

1991 में शुरू किये गये आर्थिक सुधार, 21 वीं सदी के आरम्भ में भारतीय समाज के जीवन एवं वर्ग सम्बन्धों पर अहम् प्रभाव डाल रहे हैं। इस प्रभाव को नजरअंदाज करना और इन सुधारों को पुरानी आर्थिक नीतियों का ही और तेज गति से क्रियान्वयन मानना न केवल सामाजिक यथार्थ की गलत समझ की अभिव्यक्ति है, बल्कि यह कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के व्यवहारिक लचीलेपन एवं रचनाशीलता को भी संकुचित करता है। ये सुधार भारतीय अर्थव्यवस्था और साम्राज्यवाद के अन्तर्सम्बन्धों में एक नया मोड़ हैं। इसी दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था का साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में एकीकरण हुआ है और भारतीय पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवाद के बीच का अन्तरविरोध एक नयी अवस्था में दाखिल हो गया है — सांठ-गांठ कि अवस्था में — हालांकि इस की शुरुआत 80 के दशक में ही हो चुकी थी। भारतीय मेहनतकश वर्गों के दोनों दुश्मनों के बीच के अन्तरविरोध की अवस्था में परिवर्तन — कलह के बजाय सांठ-गांठ — के कारण शासक वर्गों द्वारा शोषण व उत्पीड़न की मात्रा में अच्छी-खासी वृद्धि हुई है। साथ ही साथ सर्वहारा एवं अन्य मेहनतकश वर्गों के मुक्ति-संघर्ष के लिये स्थितियां हाल-फिलहाल और प्रतिकूल हुई हैं। साम्राज्यवाद (विशेष तौर पर अमरीकी साम्राज्यवाद) एवं भारतीय पूंजीपति वर्ग (विशेष तौर पर इजारेदार एवं शहरी औद्योगिक) के अन्तरसम्बन्धों में आये परिवर्तन की अहमियत को संज्ञान में न लेने का मतलब यह होता है कि पहले हम (सर्वहारा) इस अन्तरविरोध को अपने संघर्ष के हित में इस्तेमाल करने की कोशिशें नहीं करते थे या फिर यह कि आज हम भारतीय समाज की बदली हुई परिस्थितियों (विशेष तौर पर साम्राज्यवाद के बढ़ते प्रभाव एवं देशी पूंजीपति के राष्ट्र-विरोधी वर्ग हितों के बेनकाब होने) के अनुरूप अपनी कार्यवाहियों में परिवर्तन नहीं कर रहे हैं, कि हम नेतृत्व देने के बजाये पिछलग्गूपन कर रहे हैं।

इसके विपरीत इन परिवर्तनों को अतिरंजित करके देखना और यह मानना कि 1947 के बाद ये भारतीय इतिहास में सबसे अहम् परिवर्तन हैं, इतने अहम् कि भारत पुनः उपनिवेश बन जायेगा और भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र में एक परिवर्तन आ रहा है— खुदमुखित्यार से परनिर्भर दलाल में रूपांतरण — भी उतना ही गलत है । ऐसा मानने का मतलब होता है भारतीय पूंजीपति वर्ग एवं साम्राज्यवाद के बीच के अन्तरविरोध को अनदेखा करना इस गलत सैद्धान्तिक प्रस्थापना के व्यवहारिक निहितार्थ यही निकलेंगे कि कम्युनिस्ट साम्राज्यवाद को ही मुख्य दुश्मन मानकर अपनी सारी कार्यवाहियां संचालित कर रहे होंगे क्योंकि उनकी चेतना में भारतीय शासक तो 'साम्राज्यवाद की कठपुतली' मात्र बचेंगे । ऐसे में हम भारतीय पूंजीपति वर्ग के खिलाफ अपना संघर्ष (आम तौर पर मुख्य संघर्ष) ढीला कर रहे होंगे। यह गलत सैद्धान्तिक प्रस्थापना हमें बुर्जुआ राष्ट्रवाद के प्रति नरम बनायेगी एवं अन्य वर्ग-सहयोगी भटकावों को जन्म देगी।

भारतीय समाज के वर्तमान यथार्थ को ठीक से समझने के लिये पिछली आधी शताब्दी के इतिहास की मुख्य धाराओं की गति को समझना जरूरी है। इसके लिये 1947 के बाद के भारतीय अर्थव्यवस्था के इतिहास को तीन चरणों में बांटना सहायक है।

1947 से 1954/55 का चरण:

औपनिवेशिक प्रतिछाया से बुर्जुआ मुक्ति की ओर

90 के दशक के सुधारों की बदौलत भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना में हो रहे परिवर्तनों की तुलना में चार-पांच दशक पहले, इस चरण में जो परिवर्तन हुए वे कहीं बुनियादी प्रकृति के हैं। उनका सामाजिक जीवन पर प्रभाव कहीं ज्यादा दूरगामी, टिकाऊ और व्यापक है। इस चरण का ढांचागत पुनर्गठन सदियों से चली आ रही उत्पादन प्रणाली की जगह एक भिन्न व नयी उत्पादन प्रणाली की स्थापना की दिशा में बुनियादी परिवर्तन था। इस चरण के सुधारों की बदौलत औपनिवेशिक अर्धसामंती उत्पादन प्रणाली की जगह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की स्थापना के लिये रास्ता साफ हुआ।

1947 में भारत की राजसत्ता ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के हाथ से भारतीय पूंजीपति वर्ग एवं भूस्वामी वर्ग के हाथों में एक सौदे (deal) के तहत हस्तांतरित हुई। उस वक्त ब्रिटिश उपनिवेशवाद एवं भारतीय जनता के बीच का अन्तरविरोध तथा सामंतवाद एवं भारतीय जनता के बीच का अन्तरविरोध, भारतीय समाज के बुनियादी अन्तरविरोध थे। इनमें पहले वाला अन्तरविरोध प्रधान था। सत्ता हस्तांतरण हुआ ही तब है जब भारतीय राष्ट्रवाद इस अन्तरविरोध के प्रधान पहलू के बतौर उभर चुका था। सत्ता हस्तांतरण ने इस अन्तरविरोध को भारतीय राष्ट्रवाद के पक्ष में और झुका दिया, साम्राज्यवाद को और पीछे धकेल दिया।

लेनिनवाद इस यांत्रिक प्रस्थापना को खारिज करता है कि साम्राज्यवाद के युग में, औपनिवेशिक एवं अर्ध-औपनिवेशिक देश क्रांतियों के एक सिलसिले के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल नहीं कर सकते हैं। अन्य परिघटनाओं की तरह, लेनिनवाद राष्ट्र मुक्ति की परिघटना में भी रूपों की विविधता को स्वीकार करता है। राष्ट्रीय राजनैतिक आजादी के दो रूपों — एक, साम्राज्यवादी बंधनों की सीमाओं से बाहर राष्ट्रीय राजनैतिक आजादी और दूसरा, साम्राज्यवादी बंधनों की सीमाओं के भीतर राष्ट्रीय राजनैतिक आजादी — को तो कम से कम लेनिनवाद अपने संज्ञान में लेता ही है। पहली वाली के बारे में लेनिनवाद का मत है कि यह क्रांतियों के एक पूरे सिलसिले के बिना “असाध्य” है। दूसरी के लिये नार्वे का ठोस उदाहरण देकर लेनिनवाद ने साम्राज्यवादी बंधनों की सीमाओं के भीतर उसकी “साध्यता” को स्वीकारा है। राष्ट्रीय मुक्ति परिघटना के संदर्भ में लेनिनवाद राजनैतिक आजादी को आर्थिक आजादी से अलग करता है और इनके घालमेल की खिलाफत करता है। लेनिनवाद का स्पष्ट मत है कि आर्थिक गुलामी की अवस्था में भी कोई देश, राजनैतिक तौर पर आजाद व खुदमुख्तियार हो सकता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के काल में, और 70 के दशक के अंत तक क्रांतियों व क्रांतिकारी संघर्षों के एक अविराम सिलसिले ने पूरी दुनिया में ऐसी परिस्थिति निर्मित की कि उत्पीड़ित देश वास्तविक राजनैतिक आजादी हासिल कर सकें। राजनैतिक आजादी के इन दोनों रूपों—साम्राज्यवादी बन्धनों की सीमाओं के बाहर हासिल

राजनैतिक आजादी तथा साम्राज्यवादी बन्धनों की सीमाओं के भीतर राजनैतिक आजादी—के उदाहरण इतिहास ने पेश किये। साम्राज्यवादी बन्धनों के बाहर राजनैतिक आजादी के उदाहरण चीन व उत्तरी कोरिया जैसे देश थे। साम्राज्यवादी बन्धनों के भीतर राजनैतिक आजादी के उदाहरण भारत व इंडोनेशिया जैसे देश थे। 1947 में मिली भारत की आजादी अत्यंत कमजोर थी जिसका कुछ खास मतलब नहीं था लेकिन 1954/55 आते-आते वह वास्तविक हो चुकी थी। 1955 का बांदुंग सम्मेलन जिसमें चीनी लोक गणराज्य ने भी हिस्सेदारी की वास्तविक राजनैतिक आजादी सम्पन्न देशों के बीच की बैठक थी, जिसका मुख्य उद्देश्य मिल-जुलकर साम्राज्यवाद-विरोध करना था। दरअसल अपनी कमजोर राजनैतिक आजादी को वास्तविक राजनैतिक आजादी में तब्दील करने का काम भारत ने 1951 तक पूरा कर लिया था। 50 के दशक के पूर्वार्ध में भारतीय पूंजीपति वर्ग ने इस सद्यः प्राप्त राजनैतिक आजादी को सुदृढ़ करने के लिये अनेक राजनैतिक व आर्थिक कदम उठाये।

राजनैतिक आजादी को बढ़ाने के लिये भारतीय पूंजीपति वर्ग ने जहां एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिद्वन्दी अमरीकी साम्राज्यवाद से रिश्ते बनाये, वहीं दूसरी ओर उसने दुनिया के एक अन्य बुनियादी अन्तरविरोध, साम्राज्यवादी खेमे व समाजवादी खेमे के बीच के अन्तर्विरोध को भी इस्तेमाल करने की कोशिशों में अमेरिका विरोधी चीनी लोक गणराज्य की स्थापना को मान्यता देने में पहल की और समाजवादी खेमे की तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाया। साम्राज्यवादी चौखटे की सीमाओं के भीतर भारतीय पूंजीपति वर्ग की कमजोर, अवास्तविक राजनैतिक स्वतंत्रता को मजबूती के अवसर देने में उस दौर की अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियां — द्वितीय विश्व युद्ध में यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों की क्षति, समाजवादी खेमे का अस्तित्व में आना, एशिया-अफ्रीका के देशों में राष्ट्रीय मुक्ति लहर का उभार इत्यादि बेहद अनुकूल थीं। नेहरू के नेतृत्व में भारतीय पूंजीपति वर्ग ने बड़ी दक्षता से उस दौर में अपनी विदेश नीति का संचालन किया और अपने ऊपर साम्राज्यवादी दबाव (विशेष तौर पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दबाव) को कम किया।

विदेश नीति के समानांतर अपनी आंतरिक राजनीति में भी भारतीय पूंजीपति वर्ग ने अपनी स्थिति मजबूत की। सामन्तवाद बनाम व्यापक जनता के बुनियादी अन्तरविरोध को अपने पक्ष में इस्तेमाल करके पूंजीपति वर्ग ने भारतीय समाज में अपनी स्थिति सुदृढ़ की और अपने राजनैतिक आधार का विस्तार किया। 570 राजे-रजवाड़ों की राजनैतिक स्वायत्तता/स्वतंत्रता को समाप्त करना व अपनी केन्द्रीय सत्ता को मजबूत करना इस दिशा में एक अहम् कदम था। इन शीर्ष सामन्तों के प्रतिरोध से निपटने के लिये जहां एक ओर भारतीय पूंजीपति वर्ग इनके खिलाफ सैनिक कार्यवाही की हद तक गया वहीं दूसरी ओर उसने इस बुनियादी अन्तरविरोध के समाधान के लिये किसी भी जन-आंदोलन को विकसित नहीं होने दिया और यदि ऐसा हुआ तो उसे भी निर्ममता से कुचला। मगर सामाजिक अधिशेष में हिस्सा मांगने वाले प्रतिद्वन्दी वर्ग अथवा अतिरिक्त मूल्य सौंपने से इंकार करने वाले शत्रु वर्गों के राजनीतिक प्रतिरोध को कुचलना मात्र ही भारतीय पूंजीपति की महत्वाकांक्षा नहीं थी, वह अपने अतिरिक्त मूल्य की मात्रा को भी बढ़ाना चाहता था। अर्थव्यवस्था का अर्ध-औपनिवेशिक, अर्ध-सामंती स्वरूप इस महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये पर्याप्त नहीं था। बल्कि वह बाधक ही था। भारतीय पूंजीपति वर्ग ने उसके ढांचे को बदला, उसका पुनर्गठन किया। परन्तु ऐसा करने के लिए वह सामन्तों को कुचलने की हद तक नहीं गया। सामन्तों के प्रति रियायत-नरमी बरतते हुए, बल्कि उनके प्रतिरोध-दबाव को स्वीकारते हुए पूंजीपति वर्ग ने भारतीय कृषि का पूंजीवादी रूपांतरण किया। सामन्ती भूस्वामियों को पूंजीवादी भूस्वामियों/फार्मरों में तब्दील होने का पूरा-पूरा मौका मिला। राजे-रजवाड़ों के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त होने के बावजूद ये

सामंत-जमींदार आधार-अधिरचना में महत्वपूर्ण ताकत बने रहे तथा भारतीय पूंजीपति वर्ग की नीति को प्रभावित करते रहे। एक लम्बे समय और प्रक्रिया में ये धीमे-धीमे पूंजीपति वर्ग द्वारा आत्मसात कर लिए गए।

आर्थिक परिवर्तन के प्रथम चरण में भारतीय पूंजीपति वर्ग ने अर्थव्यवस्था को साम्राज्यवादियों की पकड़ से अपने हाथ में समेटने के लिये, प्रत्यक्ष रोक या पाबन्दियां लगाने के बजाय, अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने का तंत्र खड़ा किया। आर्थिक नियंत्रण के कुछ उपक्रम इन्हें अंग्रेजों से विरासत में मिल गये थे जिन्हें इन्होंने और विकसित किया। इनमें सबसे महत्वपूर्ण था राजस्व तंत्र। राजस्व तंत्र में भू-राजस्व के पक्ष को ढीला करते हुए इस के अन्य विभागों— आबकारी, बिक्री कर, सीमाकर इत्यादि को भारतीय पूंजीपति वर्ग ने विकसित किया। आने वाले वर्षों में इस तंत्र से वसूले गये राजस्व ने भारत के पूंजीवादी विकास में अहम् भूमिका अदा की। अर्थव्यवस्था पर वित्तीय नियंत्रण स्थापित करने के लिये 1948 में रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण किया गया। मुद्रा प्रवाह के नियंत्रण के अलावा रिजर्व बैंक ने देश के व्यवसायिक बैंकों एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं के ऋण लेने-देने की नीतियों को देश के पूंजीवादी विकास की समग्र योजना के मातहत किया। 1955 में देश के सबसे बड़े व्यवसायिक बैंक, इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके (व उससे स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना कर के) भारतीय पूंजीपति वर्ग ने वित्तीयतंत्र पर अपना नियंत्रण बढ़ाया और फिर 1969 में अन्य बड़े व्यवसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के साथ ही उसने पुरानी अर्थव्यवस्था के वित्तीय ढांचे को निर्णायक रूप से बदल डाला।

अर्थव्यवस्था को पूंजीवादी रास्ते पर बढ़ाने के लिये 1950 में योजना आयोग के रूप में एक अन्य महत्वपूर्ण संस्था खड़ी की गयी। इसे प्रधानमंत्री के प्रत्यक्ष नियंत्रण में रखा गया। पंच-वर्षीय योजनाओं के सोवियत मॉडल को अपना कर भारतीय पूंजीपति वर्ग ने आर्थिक तंत्र में साम्राज्यवादी एवं सामंती तत्वों की भूमिका को क्रमशः संकुचित किया। पहली पंच-वर्षीय योजना के लिये धन की सख्त किल्लत थी, इसलिये यह अर्थव्यवस्था पर कोई विशेष छाप नहीं छोड़ पायी। लेकिन दूसरी पंच-वर्षीय योजना के काल में भारतीय पूंजीपति वर्ग, आर्थिक गतिविधियों में साम्राज्यवादी क्रियाशीलता पर स्पष्ट पाबन्दियां व रोक लगाने की क्षमता हासिल कर चुका था और 1955 के बाद उसने ऐसे कदम उठाये। इन पंच-वर्षीय योजनाओं के साथ-साथ, साम्राज्यवाद विरोधी लोक-रंजक नारे के दक्ष इस्तेमाल से भारतीय पूंजीपति वर्ग ने अपने वर्ग-हितों के अनुकूल आर्थिक तंत्र के निर्माण में बुद्धिजीवी तबके एवं आदर्शवादी नागरिकों की अच्छी-खासी भूमिका बनायी।

पंच-वर्षीय योजनाओं के तहत होने वाले खर्च के अलावा भी भारतीय राज्य देश की आर्थिक गतिविधियों में अच्छी खासी हिस्सेदारी करता है। केन्द्र व प्रान्तीय सरकारों के समग्र योजना व गैर - योजना खर्च का योग, भारत के सकल घरेलू उत्पाद के 20% के करीब बैठता है। माल व सेवाओं का इतना बड़ा खरीददार सहज ही किसी अर्थव्यवस्था को, खरीददार होने मात्र से ही नियंत्रित करने लगेगा। भारत की केन्द्रीय व प्रांतीय सरकारों के बजट तो, खर्च के साथ-साथ राजस्व उगाही निर्णयों एवं अन्य नीतिगत निर्णयों से भी अर्थव्यवस्था को संचालित करते हैं। अपने वर्ग-हितों की पूर्ति के लिये ऐसे नियंत्रण तंत्र को खड़ा कर लेना भारतीय पूंजीपति वर्ग की बड़ी उपलब्धि है।

पूंजी की किल्लत एवं आधुनिक विज्ञान-तकनीक का अभाव इस प्रथम चरण में भारतीय पूंजीपति वर्ग की दो बड़ी समस्याएं थीं। राजाओं-सामंतों-मठाधीशों का सम्पत्ति हरण करके पूंजी जुटाने एवं जनवादी क्रांति करके विज्ञान-तकनीक के विकास के रास्ते खोलने का जोखिम उठाने के बजाय भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद से सांठ-गांठ की सुरक्षित नीति अपनायी। इस सांठ-गांठ के लिये जरूरी था कि भारत सरकार 1947 के बाद उग्र

राष्ट्रवादी कदम न उठायें। भारतीय पूंजीपति वर्ग ने भारत में कारोबार करने वाली ब्रिटिश, अमरीकी व अन्य साम्राज्यवादी कम्पनियों की परिसम्पत्तियां ज़ब्त में करने से गुरेज किया एवं अन्य तरीकों से भी साम्राज्यवादियों को रियायत दी। ऐसे में यह सम्भव नहीं था कि भारत साम्राज्यवाद की जकड़ से बाहर निकल पाता। लेकिन इस कमजोरी की मार को कुछ कम करने के लिए इस चरण में मूलभूत उद्योगों (basic industries) व अवरचना (infra structure) के विकास में अपने विदेशी विकल्पों का विस्तार भारतीय पूंजीपति वर्ग की नीति रही, जिसके उदाहरण इस्पात उद्योग व उच्च तकनीकी संस्थाएं हैं।

कृषि विकास एवं भूमि सुधार, भारतीय पूंजीपति वर्ग के लिये सबसे पेचीदा सवाल था। केन्द्रीय मन्त्रिमंडल, योजना आयोग, प्रांतीय सभाओं हर जगह भारतीय राजनीतिज्ञों व नौकरशाहों के बीच इस सवाल पर तीखी धड़े-बन्दी होती रही। भूमि सुधारों के जरिये कृषि विकास या तकनीकी सुधारों का रास्ता, ये उस बहस के दो मूल विरोधी पक्ष थे। अंततः बहस तकनीकी सुधारों के पक्ष में हल हुई। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो सामन्तवाद पर सीधे प्रहार के बजाय, कृषि में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की स्थापना के लिये क्रमिक विकास का रास्ता चुना गया, सामन्तों को अपने-आप को पूंजीवादी भूस्वामियों/फार्मरों में रूपांतरित होने के मौके दिये गये। संस्थागत कृषि ऋण, ग्रामीण मंडियों के विकास एवं समर्थन मूल्य पर आधारित उपज की सरकारी खरीद, सिंचाई साधनों, वर्ण संकर बीजों, रासायनिक खादों, कीटनाशक दवाओं, ट्रैक्टरों-मशीनों के प्रयोग को बढ़ावा देने वाले तकनीकी सुधारों के जरिये अर्ध-सामन्तवाद को क्रमशः कमजोर करने व पूंजीवाद से विस्थापित करने की नीति के सफल परिणाम आज सामने हैं।

50 के दशक का मध्य आते-आते भारतीय पूंजीपति वर्ग की ताकत व आत्मविश्वास इतना बढ़ गया था कि वह भारत में साम्राज्यवादी प्रभाव को घटाने के लिये स्पष्ट संरक्षणवादी कदम उठा सके। दूसरे चरण के संरक्षणवादी कदमों का आधार पहले चरण के बुनियादी आर्थिक परिवर्तनों द्वारा तैयार किया जा चुका था।

1955/56 से 1990/91 का चरणः

संरक्षित राष्ट्रीय बाजार का निर्माण

1990/91 की ही तरह 1957 में भारत ने विदेशी मुद्रा भुगतान संतुलन संकट का सामना किया। उस वक्त भुगतान संतुलन संकट से निपटने के लिये भारतीय पूंजीपति वर्ग की प्रतिक्रिया 90 के दशक की नीतियों से ठीक उल्टी थी। तब और उसके बाद के तीन दशकों तक अपने तमाम संकटों के समाधान के लिए भारतीय पूंजीपति वर्ग ने मूलतः राष्ट्रवादी नीतियां लागू कीं। 1957 तक भारत की आयात नीति बहुत ढीली-ढाली व उदार थी। तब सरकारी प्रतिक्रिया इसे कसने, आयात प्रतिबन्ध लागू करने एवं सीमा शुल्क बढ़ाने की ओर हुई। आयात नियंत्रण कर-बाधाओं की अपेक्षा रोक पर ज्यादा आधारित किया गया। ऐसी तमाम वस्तुओं जिनका उत्पादन भारत में हो रहा था, के आयात पर रोक लगा दी गयी। केवल उन्हीं वस्तुओं के आयात पर रोक नहीं थी जिनका उत्पादन भारत में नहीं हो रहा था। परन्तु उनका आयात भी सरकार से लाइसेन्स मिलने पर ही सम्भव था। लाइसेन्स मिलने की एक शर्त यह थी कि आयातकर्ता केवल निजी उद्यम में इस्तेमाल के लिये आयात करेगा, कि वह आयातित वस्तुओं का व्यापार नहीं करेगा। सामान्यतः उपभोक्ता सामग्री का आयात सम्भव नहीं था, केवल

पूंजीगत वस्तुओं का ही आयात सम्भव था। थोक वस्तुयें जिनके बिना अर्थव्यवस्था का संचालन असम्भव था मसलन पेट्रोलियम, खाद, अनाज, धातुएं, दवायें, उनके आयात को सरकारी एकाधिकार के तहत सरणीबद्ध (canalize) कर दिया गया। भारत में विदेशी वस्तुओं की बिक्री पर ऐसे प्रतिबन्धों का परिणाम, भारतीय पूंजीपतियों के लिये एक संरक्षित राष्ट्रीय बाजार के रूप में सामने आया।

इस चरण की एक अन्य खासियत यह है कि राष्ट्रीय बाजार की जर्जर हालत को ठीक करने के लिए एवं उसमें संतुलन पैदा करने के लिए भारतीय राजसत्ता ने पूंजी प्रवाह एवं पूंजी निवेश को और नियंत्रित किया। इस दिशा में उठाये गये कदमों में महत्वपूर्ण हैं 1956 में जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण और 1972 आते-आते शेष बीमा कारोबार का भी राष्ट्रीयकरण। इस चरण का अन्त होते-होते 90% बैंकिंग पूंजी राष्ट्रीयकृत थी और केवल 10% से कम पूंजी 52 निजी बैंकों (जिनमें 18 विदेशी बैंक भी शामिल हैं) के मालिकाने में थी। परन्तु इनका निवेश भी रिजर्व बैंक की नीतियों से नियंत्रित था। इतनी ही महत्वपूर्ण बात योजनाबद्ध ढंग से बैंकिंग तंत्र का विस्तार है। 60 के दशक की शुरुआत में जहां 88,000 भारतीयों के बीच एक बैंक शाखा थी वहीं 80 के दशक का अन्त होते-होते 12,000 भारतीयों के लिये एक बैंक शाखा अस्तित्व में आ चुकी थी। इस विशाल तंत्र ने पूरे देश से बचत इकट्ठा करना भारतीय पूंजीपति वर्ग के लिये सम्भव बनाया। साथ ही साथ ऋण देने के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक की अधिमानक नीतियों एवं 121 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के तंत्र द्वारा यह प्रयास किया गया कि अर्थव्यवस्था के विकास में संतुलन बना रहे। 1969 में एकाधिकारी एवं निरोधात्मक व्यापार व्यवहार कानून (MRTP) और उसके पूर्व की लाइसेन्स नीति ने यह प्रबन्ध किया कि निजी इजारेदारियों के साथ-साथ छोटे व मझोले पूंजीपतियों को भी शोषण करने के अवसर मिलें। 1973 के विदेशी मुद्रा नियंत्रण कानून (FERA) ने भारतीय अर्थव्यवस्था में साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी की घुसपैठ को बाधित किया और भारतीय अर्थव्यवस्था से अतिरिक्त मूल्य संचित करने के अधिकार को काफी हद तक भारतीय पूंजीपतियों के लिये आरक्षित करवाया।

किसी निजी पूंजीपति की व्यक्तिगत लालच से अलग हट कर एक समग्र वर्ग के बतौर भारतीय पूंजीपति वर्ग के दूरगामी हित इस बात की मांग करते रहे हैं कि अर्थव्यवस्था में स्थायित्व बना रहे, कि मेहनतकश जनता की कंगाली या भुखमरी बगावतों व क्रांतियों को जन्म न दे। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में अन्तर्निहित अराजकता के कारण कई बार ऐसी स्थितियां पैदा हुई हैं कि भूखे-नंगे लोग सड़कों पर उतर आये। ऐसे विशेष मौकों पर भारतीय राजसत्ता ने तेजी से महंगी होने वाली वस्तुओं की जमाखोरी के खिलाफ प्रशासनिक कदम उठाये। कालांतर में ऐसी विशेष परिस्थितियों से निपटते हुए (और वैसे भी संतुलित आर्थिक विकास के लिये) भारत में दाम नियंत्रण (administered prices) की एक पूरी प्रणाली अस्तित्व में आयी। दवाओं से लेकर सीमेन्ट और चीनी से लेकर पेट्रोल तक में तमाम जगह कंट्रोल-राज दुनिया के साम्राज्यवादियों के भारतीय अर्थव्यवस्था में दखल में बाधा पैदा करता था।

अपनी अर्थव्यवस्था के संकट को कम करने के लिए और उसके विकास में तेजी लाने के लिये भारतीय पूंजीपति वर्ग ने काफी हद तक दो महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करने की कोशिश की। पहली थी खाद्यान्न समस्या व दूसरी थी पूंजीगत सामग्री (capital goods) का अभाव। दोनों ही समस्याएं, जिस भी आंशिक हद तक हल हो पायीं, आर्थिक गतिविधियों में राज्य के प्रभावशाली हस्तक्षेप से ही हल हुईं। शताब्दियों से लगभग एक ही स्तर की उत्पादकता वाली कृषि अर्थव्यवस्था में तकनीकी सुधारों के जरिये पूंजी की पैठ, सरकारी समर्थन मूल्य पर उपज

की खरीद एवं भारतीय खाद्य निगम के भंडारण ने 1.5 - 2.0 करोड़ टन का खाद्यान्न इकट्ठा (स्थायी स्टॉक) कर दिया। इससे अकाल के दिनों में साम्राज्यवादियों (विशेष कर अमेरिका) के आगे नाक रगड़ने और भारतीय अर्थव्यवस्था में उनके हस्तक्षेप की समस्या काफी हद तक हल हुई। दूसरी के समाधान के लिये राजसत्ता ने भारत में विज्ञान-तकनीक की पढ़ाई-लिखाई को प्रोत्साहित किया। नतीजतन आज भारत के पास दुनिया में वैज्ञानिकों-तकनीशियनों का तीसरे नम्बर का बड़ा समूह एकत्र हो चुका है। इनके तथा राजस्व से उगाहे गये धन के सहारे SAIL, HMT, BHEL, BEML, BEL आदि पूंजीगत सामग्री तैयार करने वाले अनेक प्रतिष्ठान सार्वजनिक क्षेत्र में खड़े किये गये। इन क्षेत्रों में मिली सफलता ने भारतीय पूंजीपति वर्ग की बन्द, आत्मकेन्द्रित, काफी हद तक आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के निर्माण में अच्छा खासा योगदान दिया। पूंजीगत सामग्री के उत्पादन को यदि तुलनात्मक अर्थों में समझना हो तो रेल इंजनों का उत्पादन एक अच्छा मानक है। ब्रिटिश काल में भारत में इस्तेमाल होने वाले रेल इंजनों में से मात्र 4% का उत्पादन भारत में होता था, 80% का आयात ब्रिटेन से होता था और शेष 16% का जर्मनी व अमरीका से। आज भारत इनके उत्पादन में सामान्यतः आत्म निर्भर है, यदा-कदा ही इन्हें आयात करना पड़ता है। तकनीक के विकास के स्तर को आंकने के लिये अंतरिक्ष अनुसंधान - कृत्रिम उपग्रह व प्रक्षेपास्त्र निर्माण - एक अच्छा मानक होता है। इसमें भारत में आधे खरीदे हुए व आधे स्वयं निर्मित पुर्जे होते हैं। मूल बात यह है कि उपभोक्ता क्षेत्र एवं पूंजीगत सामग्री उत्पादन क्षेत्र में संतुलन बैठाने में भारतीय पूंजीपति वर्ग ने, साम्राज्यवादी वातावरण के दबाव के बावजूद, मोटे अर्थों में सफलता पाई। 1973 में खनन उद्योग में निवेशित साम्राज्यवादी परिसम्पत्तियों के राष्ट्रीयकरण के बाद, 1974 का पोखरन परमाणु विस्फोट भारतीय पूंजीपति वर्ग को तकनीकी क्षेत्र में मिल रही सफलताओं का जश्न था। ऐसी उपलब्धि के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर 3.5% के इर्द-गिर्द ही मंडराती रही।

विश्व साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के भीतर भारतीय पूंजीपति वर्ग ने किस स्तर का अलगाव (autarky) हासिल कर लिया था उसका अनुमान इस बात से भी लगता है कि भारत में 'एक दाम का नियम' (law of one prices) क्रियाशील नहीं रह गया था और किसी वस्तु की वैश्विक कीमत में परिवर्तन केवल अन्य वस्तुओं की उत्पादन लागत में परिवर्तन के बतौर ही महसूस हो पाता था, सीधे-सीधे और तत्काल नहीं। अक्टूबर 1973 में विश्व मंडियों में तेल की कीमतें तेजी से उठने लगीं परन्तु मुद्रास्फीति के रूप में इसके प्रभाव भारत में 1974/75 के वित्तीय वर्ष में ही महसूस हुए अर्थात् 6-8 महीने का 'आर्थिक-विलम्ब' अस्तित्व में आ चुका था। राष्ट्रीय बाजार के चरम संरक्षण के काल में, 1980/81 में भारत के सकल घरेलू उत्पाद की तुलना में निर्यात मात्र 4.9% और आयात 9.2% के निम्न स्तर पर थे। दूसरे शब्दों में भारतीय पूंजीपति ही भारतीय बाजार के भारी हिस्से पर कुंडली मार के बैठे हुए थे और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार पर अपने माल की बिक्री के लिये इनकी निर्भरता अति-सीमित थी। आयात-निर्यात सामग्री की प्रकृति भी साम्राज्यवादी परनिर्भरता को घटाने व औटार्की को बढ़ाने की प्रवृत्ति को ही अभिव्यक्त करते हैं। 1980/81 में पेट्रोलियम पदार्थों का आयात में 42% हिस्सा था, जबकि पूंजीगत सामग्री का 15% हिस्सा - दोनों मिल कर कुल आयात के आधे से ज्यादा थे। अर्थात् आयात मूलतः मजबूरियों तक सीमित था। 1980/81 में भारतीय निर्यात में कृषि उत्पादों व खनिज पदार्थों की अपेक्षा औद्योगिक उत्पादों का हिस्सा कहीं अधिक था-कृषि उत्पाद/खनिज पदार्थ का हिस्सा 38% से कम था जबकि औद्योगिक उत्पादों का हिस्सा 55% से अधिक हो चुका था; अर्थात् भारत के निर्यात वैसे तो कम थे ही, उनमें भी भारत अब मूलतः कच्चे माल का निर्यातक नहीं रह गया था(हालांकि निर्यात होने वाले माल निम्न स्तर की तकनीक पर

आधारित तैयार माल थे, ये पूंजीगत सामग्री अथवा हथियार नहीं थे)। तीसरे चरण की शुरुआत के समय 1990/91 में भारत के निर्यात में औद्योगिक उत्पाद का हिस्सा बढ़कर 73% के करीब पहुंच चुका था।

किन्तु ऐसा नहीं है कि इस नियंत्रणवादी/आयात प्रतिस्थापन केन्द्रित, आर्थिक विकास के मॉडल को लेकर भारतीय पूंजीपति वर्ग में मतैक्य था। लगभग हर कदम, हर फैसला विवादों से घिरा रहा और 60 के दशक में जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद के काल में, नीतिगत सवालों पर भारत के इजारेदार पूंजीपतियों के विभिन्न धड़ों के बीच विरोध व आपत्तियां काफी मुखर हो कर सामने आने लगीं। लाइसेन्स-कंट्रोल राज की समाप्ति की मांग उन दिनों काफी जोर से सुनाई दी और पूरे 70 व 80 के दशकों में सुनाई देती रही। किसी भी नियंत्रित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कई निजी पूंजीपतियों द्वारा नियंत्रण का विरोध बिल्कुल स्वाभाविक है। यह मजबूत से मजबूत पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में भी होता है। यह कहीं से भी इस बात का सबूत नहीं है कि नियंत्रण विरोधी साम्राज्यवाद के दलाल हैं और नियंत्रण के पक्षधर राष्ट्रवादी पूंजीपति हैं। फिर भी तरह-तरह की धड़ेबाजी के बावजूद भारतीय राजसत्ता की नीतियां समग्र पूंजीपति वर्ग के व्यापक हितों के अनुरूप रहीं, न कि किसी एक धड़े की पक्षपाती। भारतीय राजसत्ता की आर्थिक नीतियां साम्राज्यवादी दबाव से भी प्रभावित होती रही हैं और भारतीय पूंजीपति वर्ग को अंतर्राष्ट्रीय शक्ति संतुलन का ख्याल रखना पड़ता है परन्तु इसकी नीतियां व समय-समय पर उनमें आने वाले परिवर्तन मूलतः भारतीय पूंजीपति वर्ग की स्वयं की जरूरतों से ही तय होती हैं। 1965/67 का आर्थिक संकट काफी तीखा और गम्भीर था। अर्थव्यवस्था को खोलने एवं उदार बनाने के लिये विश्व बैंक द्वारा नियुक्त बेल मिशन अगस्त 1965 में ही अपनी सिफारिशें दे चुका था। उस वक्त भारत सरकार ने भुगतान समस्याओं के हल के लिये विश्व बैंक से अगले कई वर्षों तक 90 करोड़ डालर प्रति वर्ष की दर से गैर प्रोजेक्ट कर्ज के समझौते पर हस्ताक्षर किया। विश्व बैंक की शर्तों (जिनका अनुमोदन अमरीकी सरकार व अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष खुले तौर पर कर रहे थे) पर भारत के आर्थिक इतिहास का सबसे बड़ा एक मुश्त अवमूल्यन किया गया—रूपये की कीमत 4.76 रूपया प्रति डालर से घटा कर 7.50 रूपया प्रति डालर कर दी गयी (डालर प्रति रूपये के हिसाब से 36.5% और रूपये प्रति डालर के हिसाब से 57.6% अवमूल्यन)। परन्तु भीषण खाद्यान्न संकट, तत्कालीन निर्यातों के मूलतः प्राथमिक चरित्र व अन्य आर्थिक दुर्बलताओं के बावजूद भारतीय पूंजीपति वर्ग वक्ती तौर पर थोड़ी सी ढील देने के अलावा, मुख्यतः अपने अलगाववादी (ऑटार्किक) मॉडल पर ही डटा रहा और दरअसल इसने सबसे बड़े संरक्षणवादी कदम 1969-1974 के वर्षों में ही उठाये। ऐसा इसलिये क्योंकि उस वक्त भारतीय पूंजीपति वर्ग अपने घरेलू बाजार के संरक्षित विकास के ही पक्ष में था।

भारतीय समाज से सामंतवाद का सफाया किए बिना, उसके साथ समझौते करके तथा किसानों को सामंती बेड़ियों से मुक्त के बिना भारतीय पूंजीपति वर्ग ने विकास का जो पूंजीवाद रास्ता चुना वह पहले से ही संकटग्रस्त होने के लिए अभिशप्त था। कोढ़ में खाज यह कि इसने साम्राज्यवाद से आमूल विच्छेद नहीं किया था। इसने विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था के भीतर ही अपने सीमित अलगाव का रास्ता अपनाया था। इन सबके चलते जो भी पूंजीवादी विकास होना था वह बहुत धीमा होना था तथा उसे एक संकट से दूसरे संकट तक लरजते हुए आगे बढ़ना था। यानि भारतीय पूंजीपति वर्ग का अपना सीमित अलगाव वाला पूंजीवादी मॉडल शुरू से ही संकटग्रस्त, चिरंतन संकटग्रस्त होना था।

लेकिन 80 के दशक का मध्य आते-आते भारतीय पूंजीपति वर्ग के लिए यह साफ होने लगा था कि साम्राज्यवाद से अलगाव बनाये रख कर वह अपनी अर्थव्यवस्था को आगे नहीं विकसित कर पायेगा। कि

नेहरू-महलोनवीस मॉडल में उसके चिरस्थायी संकट का समाधान नहीं है। कि अब न तो अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां ही इसके अनुकूल रही हैं और न ही इस मॉडल में इतनी जान है कि साम्राज्यवाद से स्वतंत्र यह भारतीय पूंजीपति वर्ग के तेज विकास के रास्ते खोल पाये। ऐसे में, सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) से भारतीय पूंजीपति वर्ग ने अपनी आंतरिक आवश्यकताओं के तहत लगभग तीन दशक से सुदृढ़ हो रहे नियंत्रणवादी-संरक्षणवादी आर्थिक मॉडल को ढीला करने का नीतिगत निर्णय लिया। इस नीतिगत निर्णय से ठीक पहले मई 1984 में भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के 5.0 अरब डालर ऋण की आखिरी किश्त (1.10 अरब डालर) लेने से इंकार करके अपनी पुरानी नीति (साम्राज्यवादी चौखटे के भीतर ऑटार्की) पर एक बार फिर जोर दिया। नेहरूवादी मॉडल को तिलांजली देने की ओर इस पहल में पहली बार (दूसरी पंच वर्षीय योजना से लेकर तब तक) सार्वजनिक क्षेत्र की अपेक्षा निजी क्षेत्र को कुल योजना व्यय में वरीयता दी गयी-सार्वजनिक क्षेत्र के हिस्से को घटा कर 47.8% किया गया। अन्य महत्वपूर्ण निर्णयों में तीन वर्ष के लिये विदेश व्यापार नीति की घोषणा की गयी जिसमें परियोजनाओं के लिये पूंजीगत सामग्री के आयात पर सीमा कर 105% से घटाकर 45% किया गया तथा ऐसी पूंजीगत सामग्री व कच्चे माल के आयात को अवरुद्ध सूची (Restricted list) से हटाकर खुली आम सूची (Open general list) की श्रेणी में रखा गया। निर्यात में होने वाले मुनाफे पर 50% छूट दी गयी तथा रूई, लोहा धातु व मैगनीज धातु से निर्यात कर हटाया गया। इलैक्ट्रानिक्स क्षेत्र को विदेशी निवेश के लिये खोला गया। उद्योगों की 25 श्रेणियों में निवेश को लाइसेंस मुक्त किया गया तथा MRTP की मियाद को ऊपर उठाकर 100 करोड़ रुपये किया गया। राजीव गांधी काल के इन निर्णयों का महत्व सांकेतिक है। ये भारतीय पूंजीपति वर्ग के अपने वर्ग-हितों की पूर्ति के लिये बदलती सोच की अभिव्यक्तियां हैं। इनसे यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि अपने नियंत्रणवादी संरक्षणवादी आर्थिक मॉडल को भारतीय पूंजीपति वर्ग ने 80 के दशक के मध्य में ही छोड़ दिया था- मुनाफा कमाने वाले सार्वजनिक क्षेत्र उपक्रमों के विनिवेश की चर्चा करना भी तब गुनाह था या बहुराष्ट्रीय निगमों को भारत में पूंजी निवेश की खुली छूट देने, विदेश व्यापार पूर्णतः खोल देने की बातें भी तब अकथनीय थीं। मुक्त बाजार व्यवस्था के मॉडल को भारतीय पूंजीपतियों ने 90 के दशक में ही अपनाया।

साम्राज्यवादी चौखटे के भीतर ऑटार्की की सीमाएं थीं। पूरी ताकत लगाने पर भी भारतीय पूंजीपति वर्ग उन्हें नहीं लांघ सकता था। संकट की स्थितियों में तो भारतीय पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद के पास जा कर भईया-बाबू करता ही था और मदद के लिये अपनी बाहें मुड़वाता था, अपने सामान्य विकास के लिये भी वह साम्राज्यवाद पर एक हद तक निर्भर था और इस पूरे चरण में वह इस निर्भरता को तोड़ नहीं पाया। तमाम राष्ट्रीयकरण एवं नियंत्रण के बावजूद भारत में विदेशी बैंकों की शाखाएं थीं। 80 के दशक में भारत में 52 निजी बैंक थे जिनके पास बैंक क्षेत्र की परिसम्पतियों का 9% था। इन निजी बैंकों में से 18 विदेशी बैंक थे, जो कि अन्य निजी बैंकों की तरह ही रिजर्व बैंक की नीतियों/निर्देशों के तहत भारत में अपना कारोबार करते थे। ऐसे ही उद्योग में भी प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी लगी हुई थी। 1980 में भारत में 6,600 ऐसी कम्पनियां थीं जिनमें पूर्णतः या अंशतः विदेशी पूंजी निवेशित थी (कुल 2.8 अरब डालर) और 1990 में भारत में 13,400 ऐसी कम्पनियां थीं जिनमें पूर्णतः या अंशतः विदेशी पूंजी निवेशित थी (कुल 1.9 अरब डालर)। अर्थव्यवस्था के वित्त एवं उद्योग क्षेत्र में इस हद तक साम्राज्यवादी निजी पूंजी के अलावा, भारतीय पूंजीपति वर्ग अपने सामान्य विकास के लिये भी साम्राज्यवाद से मदद लेता रहा। छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) के लिये भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा

कोष से 5 अरब डालर का ऋण अनुबंध किया था। हालांकि तीन किशतों वाले इस अनुबंध की आखिरी किशत भारत ने नहीं ली और अपने आंतरिक संसाधनों से ही काम चलाया; तब भी यह अलगाव (ऑटार्की) की सीमाओं को ही अभिव्यक्त करता है। पूंजी निवेश, ऋण (अल्पकालिक एवं दीर्घकालिक दोनों) के अलावा तकनीक एक ऐसी चीज रही है जिसके लिये बार-बार भारतीय पूंजीपति वर्ग को साम्राज्यवाद के दरवाजे पर जाना पड़ता रहा है। आयात-प्रतिस्थापन नीतियों के तहत देशी उद्यमशीलता को तमाम प्रोत्साहन तथा राजसत्ता द्वारा अनुसंधान एवं विकास संस्थानों (R & D Institutions) की स्थापना के बावजूद भारत तकनीक के मामले में आत्मनिर्भर नहीं हो पाया। पूंजीगत सामग्री के आयात के लिये अपने दरवाजे एक हद तक खुले रखकर ही भारतीय पूंजीपति वर्ग अपनी अर्थव्यवस्था का विकास कर पाया है। देश के भीतर उच्च तकनीक का विकास कर पाने में इसकी अक्षमता इसे साम्राज्यवाद से समझौतापरस्ती के लिये मजबूर करती रही है।

विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था का अंग होने के चलते भारतीय पूंजीपति वर्ग पर साम्राज्यवाद का दबाव बहुत ज्यादा था। साम्राज्यवाद भारतीय पूंजीपति वर्ग के सीमित अलगाव को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। वह हजारों तरीकों से इस अलगाव को समाप्त करने का प्रयास करता था और कई बार सफल भी हो जाता था। भारत का कमजोर पूंजीपति वर्ग अपनी बारी में साम्राज्यवादियों के इस दबाव को झेलने के लिए अपनी राज्य सत्ता का इस्तेमाल करता था तथा साम्राज्यवादियों के बीच के अंतर्विरोध का फायदा उठाते हुए और नव-स्वाधीन देशों की एकजुटता का इस्तेमाल करते हुए अपना रास्ता निकालने का प्रयास करता था। विदेशी पूंजी में इसीलिए उस समय राज्य द्वारा लिए गए ऋण का हिस्सा इतना ज्यादा था। लेकिन तब भी भारतीय पूंजीपति वर्ग को इसमें एक हद तक ही सफलता मिल पाती थी। कुल मिलाकर उसे साम्राज्यवादी ताने-बाने का शिकार होना ही पड़ता था।

1991 से अब तक का चरण:

मुक्त बाजार पूंजीवाद

1991 के मध्य से भारतीय पूंजीपति वर्ग ने अपनी अर्थव्यवस्था में संरचनागत परिवर्तन करने शुरू किये। साढ़े तीन-चार दशक की पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया के दौरान निर्मित संरक्षणवादी-नियंत्रणवादी मॉडल को छोड़कर उसने 'मुक्त बाजार व्यवस्था' के एक भिन्न पूंजीवादी मॉडल की ओर बढ़ना शुरू किया। पूंजीवादी मीडिया और पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों ने प्रारम्भिक दौर में इस परिवर्तन के लिये जो सामान्य सफाई दी वह यही थी कि यह भारतीय अर्थव्यवस्था को संकट से उबारने के लिये आवश्यक है और यह संकट मुख्यतः भुगतान संतुलन का संकट है। इस अहम् परिवर्तन को जन्म देने वाले कारकों को भारत सरकार के अन्तरराष्ट्रीय दायित्वों के निर्वाह में दिक्कतों तक सीमित करके देखना बहुत संकीर्ण पहुंच की अभिव्यक्ति है। ऐसी पहुंच सामान्यतः गलत एवं राष्ट्रवादी प्रकृति के निष्कर्षों तक ले जाती है।

निस्संदेह 1991 की गर्मियों में भारतीय पूंजीपति वर्ग तीखे आर्थिक संकट का सामना कर रहा था और भुगतान संतुलन की दिक्कत भी तीव्र थी। भारत सरकार के पास मात्र दो-हफ्ते भर के आयात के लिये 1.0 अरब डालर के करीब विदेशी मुद्रा थी और अन्तरराष्ट्रीय ऋणदाता भारत को आगे ऋण देने से हाथ रोके हुए थे। 80

के दशक में भारत पर विदेशी ऋणों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी—1980/81 में 21 अरब डालर से बढ़कर 1990/91 में 83 अरब डालर के करीब तक। ऋण की प्रकृति भी काफी बुरी थी—दीर्घ कालिक ऋण में गैर-सरकारी निजी ऋण 28% से बढ़कर 41% हो चुका था, परिवर्ती- ब्याज दरों पर मिले ऋण का हिस्सा दीर्घ कालिक ऋण में बढ़कर 11 से 19% हो चुका था, ऋण की औसत देय आयु 27 वर्ष से घटकर 20 वर्ष हो चुकी थी। मुद्रा स्फीति 10% से अधिक थी। केन्द्र सरकार का राजकोषीय घाटा 70 के दशक के उत्तरार्द्ध के स्तर, सकल घरेलू उत्पाद के 4.5% से बढ़कर 10% के करीब पहुंच चुका था। समग्रता में भारतीय अर्थव्यवस्था बेहद नाजुक व अस्थिर स्थिति में थी। परन्तु यह स्थिति अभूतपूर्व नहीं थी। लगभग ऐसी ही बुरी स्थिति और कई मायनों में इससे भी बुरी स्थिति का सामना भारतीय पूंजीपति वर्ग पहले 1966/67 में कर चुका था या फिर एक हद तक 1974-75 व 1979/81 में। दरअसल भाति-भाति के संकटों से निपटने में भारतीय पूंजीपति वर्ग ने पर्याप्त अनुभव व दक्षता हासिल कर ली थी।

लेकिन 1990/91 के संकट से निपटने के लिये भारतीय पूंजीपति वर्ग ने इस बार पहले से हट कर रणनीति की घोषणा की। वैसे तात्कालिक वित्तीय संकट से उबरने के लिये सामान्य बुर्जुआ अर्थशास्त्रीय तर्क व स्थापित परिपाटी के अनुरूप उसने सरकारी खर्च में कटौती की, ऋण की उपलब्धता को घटाया, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के मुकाबले रूपये का 19% अवमूल्यन किया और आयात को घटाने के लिये प्रशासकीय प्रतिबन्ध व बाधाएं बढ़ायीं इत्यादि। अपनी प्रकृति के अनुरूप, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) ने सशर्त ऋण दिया व साम्राज्यवादियों ने पहले की तरह ऑटार्की घटाने के लिये दबाव बनाया। पहले की रणनीति के तहत जैसे ही भारतीय पूंजीपति वर्ग वित्तीय संकट से उबरने लगा, आर्थिक स्थायित्व की ओर बढ़ने लगा, वैसे ही उसे अपने में सिमटने एवं साम्राज्यवाद से अपना पार्थक्य बढ़ाने के लिए कदम उठाने चाहिये थे। परन्तु इस बार पार्थक्य बढ़ाने के बजाय भारतीय पूंजीपति वर्ग ने वैश्वीकरण की ओर कदम बढ़ाये। इस बार स्थायित्व हासिल करने के लिये, कुछ क्षेत्रों में नियंत्रण बढ़ाने के साथ-साथ अनेक क्षेत्रों में नियंत्रण दरअसल ढीला किया गया। सबसे अहम् बात यह है कि 1992 का अन्त आते-आते जब स्पष्टतः आर्थिक स्थायित्व हासिल कर लिया गया था, तब भी भारतीय पूंजीपति वर्ग सामान्य राष्ट्रवादी नीतियों की ओर लौटा नहीं। उल्टे उसने ऑटार्की को कम करने, नियंत्रण को ढीला करके बाजार की शक्तियों (market forces) को सक्रिय होने देने व सार्वजनिक क्षेत्र विरोधी 'नई आर्थिक नीति' को लागू किया (जिसका नीतिगत निर्णय 1991की गर्मियों में ही ले लिया गया था)। अतः 90 के पूरे दशक में आर्थिक सुधारों के अविराम सिलसिले को 1990/91 के वित्तीय संकट की प्रतिक्रिया मानना न केवल संकीर्ण दृष्टिकोण है बल्कि गलत विश्लेषण भी है।

यदि 1990/91 का वित्तीय संकट आ उपस्थित नहीं हुआ होता तब भी 90 का दशक भारतीय पूंजीवाद के लिये अपने उत्पादन के मॉडल को बदलने का दशक होता। लेकिन तब ऐसी सामान्य स्थिति में होता यह कि आर्थिक सुधार कार्यक्रम इतनी जल्दी नहीं शुरू होता और इतने आवेग के साथ भी शायद क्रियान्वित न होता। मगर जिस दिशा में भारतीय पूंजीपति वर्ग ने सातवीं पंचवर्षीय योजना के साथ, 80 के दशक के मध्य में, बढ़ना शुरू कर दिया था वह उसी दिशा में आगे बढ़ता। 1986 से 1990 के बीच भारतीय अर्थव्यवस्था ने निर्यातों में उछाल अनुभव की और इस सफलता ने भारतीय पूंजीपति वर्ग का आत्मविश्वास बढ़ाया था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में टिक सकता है। 80 के दशक के उदार दिनों में भारतीय अर्थव्यवस्था 3½% की पुरानी 'हिन्दू

विकास दर' से पिंड छुड़ा कर 5½% की ऊंची दर से विकसित हुई। इस सफलता को पूंजीवादी हलकों में नई पहल, नई उदार नीतियों की सफलता के बतौर लिया गया। इन बातों के अलावा, आपातकाल के बाद के काल में जिस तरह की व्यवस्था परस्ती केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के नेतृत्व ने दिखाई और जिस दक्षता के साथ माकपा सरकारों ने विभिन्न प्रांतों में पूंजीवादी निजाम चलाया उस अभूतपूर्व वर्ग-सहयोग ने भारतीय पूंजीपति वर्ग को इस मामले में आश्वस्त किया कि बिना किसी बड़े बवाल के सार्वजनिक क्षेत्र विनिवेश सम्भव है। कुल मिला कर 80 के उत्तरार्ध की सफलताओं ने भारतीय पूंजीपति वर्ग के भीतर मुक्त बाजार व्यवस्था के रूझान को मजबूत किया था। 1991 में मनमोहन सिंह नरसिम्हा राव सरकार कायम होने के पहले ही चन्द्र शेखर काल में ही मोन्टेक सिंह आहलूवालिया के नेतृत्व में 'नई आर्थिक नीतियों' की योजना तैयार हो चुकी थी। तब भी इस 'ब्लू प्रिंट' की प्रकृति फौरी वित्तीय संकट को हल करने वाले नुस्खे तक सीमित नहीं थी, यह एक दीर्घकालिक योजना थी।

अन्तर्राष्ट्रीय माहौल भी राजसत्ता द्वारा नियंत्रित अर्थव्यवस्थाओं के खिलाफ व बाजार की शक्तियों से चालित पूंजीवाद के पक्ष में सहायक राय का निर्माण कर रहा था। गोर्बाचोव के पेरेस्त्रोइका व चीन के राजकीय पूंजीवाद में विशिष्ट निर्यात क्षेत्रों के प्रयोगों ने अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवादी हलकों में मुक्त बाजार व्यवस्था की अर्थशास्त्रीय दलीलों को बल प्रदान किया था। परन्तु भारतीय पूंजीपति वर्ग को अपना मॉडल बदलने के लिये उकसाने में 80 के दशक के मध्य की इन अर्थशास्त्रीय दलीलों में बहुत कम ताकत थी। भारतीय पूंजीपति वर्ग के मॉडल परिवर्तन निर्णय को सहायक कारक की हैसियत से त्वरित किया 1989-91 के घटनाक्रम ने, पूर्वी यूरोप व सोवियत संघ में राजकीय पूंजीवाद के संकटग्रस्त मॉडल के ढह जाने व सोवियत संघ के विघटन ने, जिसने भौतिक तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवाद के मिश्रित चरित्र को समाप्त करके मूलतः निजी मालिकाने पर आधारित पूंजीवाद का एकछत्र राज कायम किया। वैश्विक पूंजीवाद की संरचना में इस नयी समरूपता (निजी मालिकाने पर आधारित पूंजीवाद) ने जहां भारतीय पूंजीपति वर्ग के मॉडल परिवर्तन निर्णय को त्वरित किया, वहीं एक अन्य जुड़े हुए कारक, अन्तः साम्राज्यवादी अन्तरविरोध के अवस्था परिवर्तन—कलह की अवस्था से थोड़ी देर के लिये सांठ-गांठ की अवस्था में आ जाना—ने भी भारतीय पूंजीपति वर्ग पर मॉडल परिवर्तन के लिये दबाव बनाया (साम्राज्यवादियों के बीच कलह तीसरी दुनिया के देशों की ऑटार्की के लिये ज्यादा अनुकूल स्थिति थी)। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय जगत में इस सारी नयी परिस्थिति के बावजूद यदि भारतीय पूंजीपति वर्ग चाहता तो वह बर्मा की तरह उत्पादन के पुराने पूंजीवादी मॉडल को बनाये रख सकता था। मॉडल परिवर्तन का मुख्य कारक बाहरी परिस्थिति की विवशता नहीं, तीखा होता हुआ आंतरिक संकट था, जिसकी प्रकृति दीर्घकालिक व स्थायी थी न कि अल्पकालिक।

भारतीय पूंजीपति वर्ग ने अपने कमजोर-समझौतापरस्त चरित्र के अनुरूप तथा तत्कालीन आंतरिक और बाह्य वर्गीय शक्ति संतुलन में अपने लिए विकास का मॉडल चुना था। यह राज्य द्वारा नियंत्रित अर्थव्यवस्था तथा साम्राज्यवाद से सीमित अलगाव का मॉडल था। इसमें राज्य को महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका निभानी थी। इसमें राज्य को भारत के कमजोर पूंजीपतियों की कमजोरी की भरपायी करनी थी। उसे अवरचनागत उद्योग खड़े करने थे, पूंजीवादी विकास के लिए ताना-बाना खड़ा करना था, तकनीक विकसित या आयात करनी थी, साम्राज्यवादियों से देशी पूंजीपतियों की रक्षा करनी थी इत्यादि। इसके लिए सार्वजनिक क्षेत्र, राज्य द्वारा नियंत्रित अर्थव्यवस्था, कल्याणकारी कदम, बाहर से सीमित अलगाव इत्यादि का प्रबन्ध किया गया। यह सब तब भारत के पूंजीपति वर्ग की जरूरत थी और उसके राज्य ने यह सारा कुछ किया। इससे पूंजीपति वर्ग को खूब फायदा हुआ और तीन-चार

दशकों में वह खूब फल-फूल गया। वह अब काफी मजबूत हो गया। उसके पास काफी पूंजी इकट्टी हो गई। भारतीय पूंजीपति वर्ग की इस अवस्था में अब पुराना मॉडल उसके पूंजी संचय के लिए बाधा बनने लगा। पहले की जो चीज उसके विकास के लिए निहायत आवश्यक या यहां तक कि अनिवार्य थी अब वही उसके लिए बेड़ियां बनने लगी। राज्य द्वारा नियंत्रित अर्थव्यवस्था और साम्राज्यवाद से सीमित अलगाव अब उसके आगे के पूंजी संचय के लिए बाधा बनने लगे। अब उसे 'मुक्त बाजार पूंजीवाद' और 'वैश्वीकरण' की जरूरत थी। उसे आंतरिक और बाह्य सम्बन्धों में उदारीकरण की जरूरत थी उसे साम्राज्यवाद से एकीकरण की जरूरत थी। इस एकीकरण से ही वह अपने संरचनागत संकट से छुटकारा पा सकता था। 1980 के दशक के मध्य में छिट-पुट और 1991 से जोर-शोर से इसी एकीकरण को अंजाम देना शुरू किया गया। 'नयी आर्थिक नीति' का यही निहितार्थ है।

एक दशक के आर्थिक सुधारों ने उत्पादन के पुराने नियंत्रणवादी, संरक्षणवादी मॉडल को गुणात्मक अर्थों में बदल डाला है और अभी परिवर्तन की प्रक्रिया जारी है।

1990/91 में आयात पर प्रतिबंध या मात्रात्मक बंदिशों (Quantitative barriers) के अलावा, ऊंची कर बाधाएं (tariff barriers) भी थीं। उस समय सीमा कर औसतन 125% था और इसका शीर्ष 355% था। आज 21 वीं सदी में रक्षा क्षेत्र की 600 वस्तुओं को छोड़ कर अन्य सभी वस्तुओं के आयात को पूर्णतः खोल दिया गया है (9,000 से अधिक वस्तुओं के आयात पर से मात्रात्मक बंदिशें हटा दी गई हैं और किसी भी वस्तु के आयात पर 50% से अधिक सीमा कर नहीं है)। ऐसे में सामान्य अपेक्षा यही होगी कि साम्राज्यवादी अपने उत्पादों से भारतीय बाजारों को पाट देंगे और भारतीय पूंजीपतियों का बाजार में हिस्सा (market share) सिकुड़ कर थोड़ा सा रह जाना चाहिये। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। 1990/91 में सकल घरेलू उत्पाद के अनुपात में जहां आयात 8.2% था वहीं 2001/2002 में यह अनुपात 10.5% के करीब रहा। उधर विश्व व्यापार संगठन(WTO) की स्थापना के आठ वर्ष बाद 2001/2002 में सकल घरेलू उत्पाद के अनुपात में निर्यात 8.5% है जब कि 1990/91 में यह अनुपात 6.2% था। अर्थव्यवस्था को विदेश व्यापार के लिये खोल देने पर आयात तो बढ़ा परन्तु भारतीय पूंजीपति वर्ग ने तब भी भारतीय बाजार के भारी हिस्से पर अपनी पकड़ बनाये रखी। अर्थात् संरक्षण हटने पर भी वह टिका हुआ है। दूसरी ओर उसने अपने निर्यात भी उस हद तक बढ़ाये जिस हद तक उसे विदेशी आयात से नुकसान हुआ। 1990/91 में भारत के निर्यात/आयात का अनुपात 3/4 हुआ करता था, सन 2001/2002 में भी लगभग वही स्थिति बरकरार है। सीमित नुकसान उठाकर भारतीय पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद की वैश्विक प्रतियोगिता में अपना मार्केट शेयर बचाये हुए है। कम से कम विदेश व्यापार के लिहाज से भारतीय पूंजीपति वर्ग को अपने मॉडल परिवर्तन के निर्णय को लेकर कोई अफसोस नहीं है। यह स्पष्ट होता जा रहा है कि वह साम्राज्यवादी वैश्वीकरण में अपनी जगह बनाये रख सकता है और उसका घरेलू बाजार मूलतः उसी के कब्जे में रहेगा।

भारतीय बाजार पर मूलतः भारतीय पूंजीपति वर्ग की पकड़ बने रहने के बावजूद विदेश व्यापार में बढ़ोत्तरी (निरपेक्ष अर्थों में एवं अर्थव्यवस्था के आकार के सापेक्ष भी) से भारतीय अर्थव्यवस्था का साम्राज्यवाद के साथ अंतर्गुम्फन बढ़ा है। 1990/91 में जब भारत का सकल घरेलू उत्पाद 315 अरब डालर के करीब था, भारत 24 अरब डालर का आयात कर रहा था और 18 अरब डालर का निर्यात कर रहा था। अब 2000-1 में जब भारत का सकल घरेलू उत्पाद 480 अरब डालर के करीब है तब आयात 50 अरब डालर है और निर्यात 42 अरब डालर है। इस वृद्धि के साथ-साथ यह भी सही है कि न तो सारा का सारा निर्यात ही साम्राज्यवादी देशों को

होता है और न सारा आयात साम्राज्यवादी देशों से होता है—मोटे तौर पर भारत अपना आधा विदेश व्यापार साम्राज्यवादी देशों के साथ करता है और आधा गैर-साम्राज्यवादी देशों के संग। लेकिन तब भी आयात निर्यात में वृद्धि यही दिखाती है कि अन्तर्गुम्फन बढ़ रहा है, वैश्वीकरण बढ़ रहा है। ऐसे में निस्संदेह साम्राज्यवाद के सापेक्ष भारतीय पूंजीपति की स्थिति कमजोर हुई है।

साम्राज्यवादी देशों से वित्तीय पूंजी का निर्यात अथवा उत्पीड़ित देशों में वित्तीय पूंजी का आयात, साम्राज्यवाद की लाक्षणिक विशेषताओं में से एक है। ऋण पूंजी के अलावा प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश (FDI) एवं शेयर बाजारों में पूंजी निवेश, 'फारेन पोर्टफोलियो इन्वेस्टमेंट' (FPI) आज की दुनिया में इसके दो अन्य प्रमुख रूप हैं। आर्थिक सुधारों के चरण की एक खासियत यह है कि इस दौरान भारत में विदेशी ऋण पूंजी का प्रवाह काफी धीमा रहा है, जब कि FDI व FPI का प्रवाह कई गुना बढ़ा है। आर्थिक सुधारों से ठीक पहले 1990 में भारत के ऊपर कुल विदेशी ऋण 83 अरब डालर था। सन 2001/2002 आते-आते यह बढ़ कर 100 अरब डालर के करीब पहुंच गया अर्थात् इन 10 वर्षों में यह 17 अरब डालर बढ़ा। 80 की शुरुआत में यह 20 अरब डालर के स्तर पर था। यानि कि 80 के दशक में यह करीब 63 अरब डालर (3¼गुना) बढ़ा।

90 के दशक में पूरी विकासशील दुनिया की ओर FDI के रूप में साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी के प्रवाह में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। 1987-92 के दौरान जहां विकासशील देशों में प्रत्यक्ष पूंजी निवेश का स्तर 35 अरब डालर प्रति वर्ष था, वहीं 1998 आते-आते यह 166 अरब डालर प्रति वर्ष तक बढ़ गया। भारत में भी विदेशी निवेश में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। आर्थिक सुधारों से पहले 1990/91 में भारत में कुल 13,400 विदेशी साझेदारियां थीं और इनमें लगी हुई कुल विदेशी पूंजी 1.9 अरब डालर से कम थी (यह FDI ही थी, उस वक्त भारत में FPI नगण्य थी)। आर्थिक सुधारों के तहत भारत में विदेशी निवेश के लिये एक के बाद एक नये क्षेत्र खोले गये और सरकार ने विदेशी निवेश को बाधित करने के बजाय उसे आमंत्रित करने की खुली नीति अपनायी। विदेशी पूंजी के प्रवेश के लिये भारत के दरवाजे न केवल FDI के तहत खोले गये बल्कि FPI के लिये भी ऐसा ही किया गया। सितम्बर 1992 के बाद से अब तक जो 'सुधार' हुए हैं उनकी बदौलत संस्थागत विदेशी निवेशकों (FII) के लिये भारतीय पूंजी बाजारों की प्राइमरी व सेकेंडरी मंडियों में निवेश सुलभ हो चुका है। अब FII को भारतीय पूंजी बाजारों से होने वाली आमदनी को बाहर ले जाने की पूरी छूट (full repatriation) की है और वे छोटी से छोटी अवधि के लिये यहां निवेश कर सकती (zero lock-in period) हैं। विदेशी पूंजी निवेश के लिये भारत को खोलने के बाद 1991-92 से 1999-2000 के बीच कुल प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (FDI) 15.6 अरब डालर व इसी काल में शेयर बाजार में विदेशी पूंजी निवेश (FPI) 18.5 अरब डालर हुआ। दोनों मिलकर 34 अरब डालर थीं। 1.9 अरब डालर के निम्न स्तर से 36 अरब डालर के स्तर तक गैर-ऋण वित्तीय पूंजी की वृद्धि अपने आप में अभूतपूर्व है। परन्तु यदि भारत में आर्थिक सुधारों के दशक में कुल विदेशी पूंजी निवेश आयात को जोड़ा जाये तो यह 53 अरब डालर से कम रहा। लगभग इतनी ही (बल्कि इससे ज्यादा) वित्तीय पूंजी का आयात भारत में 80 के दशक में हुआ था, जब संरक्षण का स्तर बहुत ज्यादा था—FII का प्रवेश वर्जित था और FDI के रास्ते में भी लाइसेंस स्वीकृति की अनेक बाधाएं थीं। यदि इस दौरान अर्थव्यवस्था के आकार में हुई वृद्धि को भी ध्यान में रखा जाये तब निष्कर्ष यही निकलता है कि सामान्य अपेक्षा के ठीक विपरीत वैश्वीकरण के चरण में हाल-फिलहाल भारत में साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी का आयात बढ़ा नहीं है।

भारतीय पूंजी के सापेक्ष जब साम्राज्यवादी पूंजी को देखा-समझा जाये तब स्थिति और साफ होती है। 21 वीं सदी के शुरू में भारत में हर साल 95-100 अरब डालर नवीन पूंजी निर्माण हो रहा है। पिछले किसी भी वित्तीय वर्ष में FDI 4 अरब डालर से ज्यादा नहीं रही और समग्र विदेशी पूंजी निवेश (FDI + FPI) 6 अरब डालर से अधिक नहीं रहा। इसमें कोई संदेह नहीं कि साम्राज्यवादी पूंजी अपने इजारेदाराना चरित्र तथा वैश्विक प्रभुत्व की वजह से अपने आकार से कहीं अधिक प्रभावशाली होती है। लेकिन फिर भी भारत में इसका आकार अभी इतना नहीं हो पाया है कि यह भारतीय समाज की मुख्य संचालक शक्ति बन बैठे। भारतीय पूंजी, जिसकी संरचना में भी इजारेदारियां हैं, ही आज भारतीय समाज की मुख्य संचालक शक्ति है। अभी भारतीय समाज में भारतीय पूंजी ही प्रतिक्रियावाद का मुख्य स्तम्भ है और भारत के सर्वहारा व अन्य मेहनतकश वर्गों की मुख्य शत्रु।

दूसरी ओर यह बात भी अपने संज्ञान में लेनी जरूरी है कि हालांकि आर्थिक-सुधारों की बदौलत भारत को निर्यात होने वाली कुल साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी का प्रवाह बढ़ा नहीं है लेकिन तब भी उसकी संरचना में एक अहम् परिवर्तन आया है। इसमें ऋण पूंजी का अनुपात घटा है और FDI व FPI का अनुपात बढ़ा है। यह परिवर्तन एक ओर तो भारतीय अर्थव्यवस्था पर साम्राज्यवादी पूंजी की गिरफ्त को और मजबूत बनाता है, (ऋण पूंजी की तुलना में FDI/FPI ज्यादा पराश्रितता पैदा करते हैं) दूसरी ओर यह अर्थव्यवस्था की अस्थिरता (Volatility) को बढ़ाता है। इसके चलते सर्वहारा एवं अन्य मेहनतकश वर्गों की जीवन स्थितियां पुरानी स्थिति (80 के दशक की स्थिति) की अपेक्षा कहीं ज्यादा संकटग्रस्त हो गयी हैं।

FPI के पूर्ण परोपजीवी चरित्र के अलावा भारत में निवेशित होने वाले FDI की भी एक खासियत यह है कि इसमें से 2/5 हिस्से ने कोई नई परिसम्पत्तियां नहीं खड़ी कीं। यह लगभग 6 अरब डालर FDI सीधे-सीधे 'विलय एवं अधिग्रहण' में इस्तेमाल हुई है। केवल 9 अरब डालर के करीब FDI ने ही भारत के उत्पादन-साधनों में वृद्धि की है। आर्थिक सुधारों के वर्तमान चरण की साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी की एक अन्य विशेषता इसका और ज्यादा परोपजीवी चरित्र है।

एक अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र जहां भारतीय पूंजीपति वर्ग ने अपनी पुरानी नीति को त्यागा है वह है मुद्राओं की परिवर्तनीयता। पुरानी सोच के हिसाब से विदेशी मुद्रा भंडार की रक्षा के लिये तथा राष्ट्रीय मुद्रा की स्थिरता के लिये यह जरूरी था कि रूपये को डालर, पाउंड अथवा अन्य शक्तिशाली मुद्राओं से बचाया जाये। इसके लिये राजसत्ता विदेशी मुद्राओं व रूपये की आपस में अदला-बदली पर अनेक बंदिशें लगाती थी। एक ओर वह समय-समय पर रूपये की अन्य विदेशी मुद्राओं के साथ निश्चित विनिमय दरों की घोषणा करती थी। दूसरी ओर उद्योगपति, व्यापारी व सामान्य नागरिकों की विदेशी मुद्रा तक पहुंच में अनेक प्रशासनिक तथा कानूनी बाधाएं थीं। कानूनन जो थोड़ा-बहुत विनिमय हो पाता था वह सरकार द्वारा घोषित दरों पर अनेक बाधाओं के घेरे के भीतर ही। परन्तु 1992-93 के बजट में सरकार ने रूपये को, व्यापार खाते में, आंशिक तौर पर परिवर्तनीय बना दिया। फिर अगस्त 1994 में इसे चालू खाते में भी परिवर्तनीय बना दिया गया। अब स्थिति यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये रूपये के बदले विदेशी मुद्रा सुलभ है और विदेश दौड़ों के खर्च के लिये भी यही स्थिति है। परन्तु कर्ज अथवा सम्पत्ति खरीद के लिये नहीं, जो कि पूंजीगत खाते (capital A/C) के तहत है। रूपये की परिवर्तनीयता को इस हद तक बढ़ा देने के बावजूद भारत के पास इस समय 50 अरब डालर के करीब विदेशी मुद्रा भंडार है। जहां तक रूपये की स्थिरता की बात है, पूंजीपति वर्ग के लिये यह स्वीकार्य है कि विदेशी मुद्राओं के सापेक्ष रूपये के दाम गिरते रहें बशर्ते गिरावट धीमी व संतुलित हो। आर्थिक सुधारों के एक दशक में रूपया

डालर के मुकाबले 2½ गुना के करीब गिर चुका है और यह गिरावट जारी है। भारतीय पूंजीपति वर्ग के सदस्यों ने अपना विदेश व्यापार व अन्य कारोबार इस क्रमिक व संतुलित गिरावट के अनुरूप संचालित करने के गुर सीख लिये हैं। कुछ राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों के जड़-दिमागों के लिये यह आज भी राष्ट्रीय-गौरव का सवाल बनता है परन्तु व्यवहारिक पूंजीपतियों के लिये नहीं, बशर्ते गिरावट संतुलित रहे। रूपये की क्रमिक संतुलित गिरावट अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में भारतीय पूंजीपति के निर्यातों की प्रतियोगितात्मक क्षमता को बनाये रखने में सहायक है और उल्टे घरेलू बाजार में आयात को निरूत्साहित करती है। रूपये की क्रमिक संतुलित गिरावट को सीधे-सीधे भारतीय पूंजीपति वर्ग के संकट की अभिव्यक्ति एवं साम्राज्यवाद के समक्ष समर्पण के बतौर देखना ठीक नहीं है।

आर्थिक सुधारों के जरिये जिस नये मॉडल पर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का संचालन किया जा रहा है उसमें आर्थिक गतिविधियों में (उत्पादन व वितरण कार्यवाहियों में) एक पूंजीपति की हैसियत से भारतीय राजसत्ता की भूमिका को काफी हद तक घटाया जा रहा है। इससे पहले पुराने नेहरू मॉडल में न केवल राजसत्ता सार्वजनिक क्षेत्र की अपनी इकाइयों के जरिये अर्थव्यवस्था में एक पूंजीपति की हैसियत से उतरती थी बल्कि वह अर्थव्यवस्था में सबसे बड़ी इजारेदार थी, जिसके लिये अर्थव्यवस्था के ढेर सारे क्षेत्र आरक्षित भी थे। नये मॉडल की अर्थव्यवस्था में निजी इजारेदारियों की ही परिकल्पना है और एक पूंजीपति के रूप में राजसत्ता के वजूद को समाप्त करने की बात है। इसकी बहुत ही क्षीण सम्भावनाएं हैं कि नयी अर्थव्यवस्था में एक पूंजीपति के रूप में राजसत्ता का वजूद पूर्णतः समाप्त हो जाय, परन्तु इतना स्पष्ट है कि इसे घटाया जाना है और इस दिशा में काफी कार्यवाही हो चुकी है। जो विनिवेश हो रहा है, उसके बारे में दो उल्लेखनीय बातें हैं। एक यह कि विनिवेश केवल तथाकथित घाटे में चलने वाले या कम मुनाफा देने वाले सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों तक सीमित नहीं है, भारी मुनाफा देने वाले सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का भी विनिवेश किया जा रहा है। दूसरे यह कि इन्हें खरीदने वाले मुख्यतः भारतीय पूंजीपति हैं न कि साम्राज्यवादी बहु-राष्ट्रीय कम्पनियां। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो विनिवेश, साम्राज्यवादी दबाव के तहत कम और भारत के निजी इजारेदार पूंजीपतियों की हित पूर्ति के लिये ज्यादा हो रहा है।

नये मॉडल में भारतीय राज सत्ता के बजट के चरित्र में भी गौरतलब परिवर्तन आये हैं। चूंकि भारत के केन्द्र व प्रान्तीय सरकारों के बजट का योग भारत के सकल घरेलू उत्पाद के 1/6 के करीब होता है, इसलिये नीतिगत फैसलों के अलावा ये बजट माल व सेवाओं के खरीददार की हैसियत से भी अर्थव्यवस्था के विकास को काफी हद तक प्रभावित करते हैं। 80 के दशक के उत्तरार्ध में वित्तीय असंतुलन बढ़ने लगा था क्योंकि राजकोषीय घाटा (fiscal defecit) काफी बढ़ गया था। 80 के दशक के पूर्वार्ध में जहां यह सकल घरेलू आय का 6.3% था वहीं उत्तरार्ध में यह 8.2% तक बढ़ गया। इसकी तुलना में 90 के दशक में राजकोषीय घाटा सकल घरेलू उत्पाद का 5.7% रहा है, जिसके लिये विभिन्न सरकारें अपने वित्त मंत्रियों की पीठ ठोंकती रही हैं। परन्तु जिन नुस्खों से यह उपलब्धि हासिल हुई है वे भले ही वक्ती तौर पर अर्थव्यवस्था के संकट को कम करें दीर्घकालिक तौर पर ये संकट को और बढ़ा रहे हैं। दरअसल, 90 के दशक में राजस्व घाटा (revenue deficit), जो कि राजस्व आमदनी व राजस्व खर्च के अन्तर को दर्शाता है, 80 के उत्तरार्ध के अपने स्तर (सकल घरेलू उत्पाद का 2.6%) से बढ़ा है (2.9% के औसत पर पहुंचा है)। इसका मतलब साफ है कि ऐसी स्थिति में राजकोषीय घाटा तभी कम हो सकता है जब सरकार अपने पूंजीगत निवेश को कम करे या फिर पूंजीगत आमदनी को बढ़ाने के लिये उधार पर पैसा उठाये अथवा अपनी सम्पत्ति बेचे। हो भी यही रहा है। वित्तीय संतुलन हासिल करने के लिये सरकार पूंजीगत व्यय (capital expenditure) को 1990/91 के स्तर—कुल सरकारी खर्च के 30.

18% (सकल घरेलू उत्पाद का 5.5%)—को 1998/99 में घटा कर 21.8% (सकल घरेलू उत्पाद का 3.6%) कम कर चुकी थी। पूंजीगत निवेश के प्रति यह रूख सामान्यतः मंदियों को करीब लाता है। भारत के पूंजीपति 1996/97 से ही अर्थव्यवस्था के विकास के धीमे होने की शिकायतें करने लगे हैं। आने वाले वर्षों में यह विकास दर और धीमी हो सकती है, 2-3% से भी नीचे जा सकती है और भारतीय अर्थव्यवस्था अपने-आप को एक मुकम्मिल ठहराव की जकड़ में पा सकती है।

आर्थिक सुधारों ने अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों में प्रांतीय सरकारों के सीधे हस्तक्षेप के रास्ते खोले हैं। पुराने मॉडल में, अन्तर्राष्ट्रीय जगत से व्यापार व निवेश की बंदिशों की स्थिति में प्रांतीय सरकारों के समक्ष ऐसे अवसर नहीं थे। 'लाइसेन्स-कंट्रोल' तंत्र की समाप्ति, विदेश व्यापार व निवेश के लिये घरेलू अर्थव्यवस्था का खुलना, रूपये की आंशिक परिवर्तनीयता इत्यादि वे नयी स्थितियां हैं जिन्होंने एक किस्म की आर्थिक संघात्मकता (economic federalism) को जन्म दिया है। नये मॉडल में प्रांतीय सरकारों के मुख्यमंत्री अपने प्रदेश के पूंजीपतियों के प्रतिनिधि की हैसियत से अन्य देशों के पूंजीपतियों के नुमाइन्दों से सीधे सम्बन्ध कायम करते हैं। लेकिन प्रांतीय सरकारों की उक्त बढ़ी हुई हैसियत भारत के असमान विकास को और बढ़ायेगी तथा आने वाले दिनों में कर वसूली ढांचे के परिवर्तन एवं संवैधानिक स्तर के अन्य आर्थिक-राजनैतिक विवादों को जन्म देगी। इस नई स्थिति में साम्राज्यवादी पूंजी सीधे प्रांतीय सरकारों से लेनदेन कर रही है और उसकी पैठ तथा जकड़न ज्यादा बढ़ रही है।

आर्थिक सुधारों के चरण के लिये विशिष्ट कार्यभार तय करते समय सर्वहारा को वैज्ञानिक समाजवाद की क्रांतिकारी विचारधारा को अपना आधार बनाना चाहिये। उसे किसी भी प्रकार के पेटी बुर्जुआ राष्ट्रवाद अथवा कल्याणकारिता (welfarism) को अपना आधार नहीं बनाना चाहिये। सर्वहारा के वर्ग हित निजी सम्पत्ति के किसी भी रूप का समर्थन नहीं करते हैं। ये उसके हर रूप (इजारेदाराना, गैर-इजारेदार, निजी मिल्कियत, राजकीय पूंजीवादी इत्यादि) के उन्मूलन की मांग करते हैं।

पेटी बुर्जुआ राष्ट्रवाद अथवा कल्याणकारी दृष्टिकोण वर्तमान आर्थिक सुधारों पर आधारित मॉडल को 1991 के पहले के मॉडल की तुलना में ज्यादा बुरी चीज मानता है और वह पुराने मॉडल के ढेर सारे रूपों को अंशतः या पूर्णतः बचाने की लड़ाई लड़ता है। उस के लिये नया बुरा है, पुराना थोड़ा बेहतर था। वर्ग सचेत सर्वहारा के लिये निजी सम्पत्ति का रूप अथवा शोषक की कौमियत ऐसे मुद्दे नहीं हैं जिनके लिये वह लड़े (राष्ट्र मुक्ति की लड़ाईयों में वह मात्र इसलिये शामिल होता है क्योंकि इनसे राजनैतिक जनवाद का विस्तार होता है जो कि उसके अपने संघर्ष में सहायक है और क्योंकि इसकी विजयी परिणिति पर उसके अपने संघर्ष की रूप-रेखा साफ होती है)। वर्ग सचेत सर्वहारा उदारीकरण-वैश्वीकरण की नयी स्थितियों में अपने पृथक वर्ग हितों को चिन्हित करता है। अगर वह पाता है कि नई स्थितियों में उसके काम (श्रम शक्ति की बिक्री) की शर्तें व जीवन निर्वाह की स्थितियां बुरी हो रही हैं, उसे मिलने वाली सामाजिक-राजनीतिक आजादी घटायी जा रही है तो वह इन्हें मुद्दा बना कर लड़ता है। सम्पत्ति का राजकीय सार्वजनिक रूप, सम्पत्ति के मालिकों की राष्ट्रीयता, अर्थव्यवस्था का नियंत्रित अथवा बाजार की शक्तियों के हवाले नियोजन, ऑटार्की अथवा मंडियों का वैश्वीकरण इत्यादि अपने-आप में सर्वहारा के कोई मुद्दे नहीं बनते। इनके पक्ष या विपक्ष में अवस्थिति, सर्वहारा की श्रम शक्ति की खरीद की शर्तों / जीवन निर्वाह स्थितियों व संघर्ष के सापेक्ष ही कोई अर्थ रखती है। सर्वहारा के लिये पूंजीपतियों की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण न तो अपने आप में प्रगतिशील है और न ही विनिवेशीकरण प्रतिक्रियावादी।

वर्ग सचेत सर्वहारा सी.पी.आई./सी.पी.एम. या अन्य पेटी बुर्जुआ राष्ट्रवादियों की तरह सार्वजनिक क्षेत्र के विनिवेशीकरण पर इसलिये छाती नहीं पीटता क्योंकि भारतीय जनता की मेहनत से बने उपक्रम निजी पूंजीपतियों को सस्ते दामों पर बेचे जा रहे हैं। वर्ग सचेत सर्वहारा जानता है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की तरह निजी क्षेत्र के उपक्रम भी मेहनतकशों की मेहनत की बदौलत ही अस्तित्व में आये हैं और इनमें से किसी पर भी मेहनतकश जनता का नियंत्रण या मालिकाना नहीं है, कि पूंजीवाद में अच्छे-बुरे दामों पर सम्पत्ति की खरीद-बिक्री लगी रहती है और सम्पत्ति के मालिकाने के रूप भी बदलते रहते हैं। वर्ग-सचेत सर्वहारा इस मामले में अपने वर्ग हितों को आगे रखता है और यह देखता है कि विनिवेशीकरण उसकी श्रम-शक्ति के इस्तेमाल की शर्तों/जीवन स्थितियों व संघर्षों के अनुकूल है या प्रतिकूल। वह प्रतिकूल को कम करने के लिए व अनुकूल को बढ़ाने के लिये लड़ता है। उसके लिये उसके वर्ग हितों पर हमला, छंटनी, स्थायी रोजगार के स्थान पर ठेका श्रम, संगठन बनाने व संघर्ष करने के अधिकार इत्यादि मुख्य मुद्दे हैं और वह इन्हीं बातों के इर्द-गिर्द अपना राजनीतिक प्रचार व लामबन्दी करता है। संशोधनवादी नेताओं और पेटी बुर्जुआ बुद्धिजीवियों की भांति वह सार्वजनिक क्षेत्र की काहिली (in efficiency) एवं उसमें विद्यमान भ्रष्टाचार पर कोई पर्दा नहीं डालता है। वह समाज को यह बताता है कि मुक्त बाजार पूंजीवाद व विनिवेशीकरण इन समस्याओं का समाधान नहीं हैं, कि काहिली, कामचोरी, भ्रष्टाचार के तमाम अन्य रूप किसी भी प्रकार के पूंजीवाद में रहेंगे ही और इनका अन्त समाजवाद में ही किया जा सकता है। वर्ग सचेत सर्वहारा का सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रत्ती भर मोह नहीं है। वह इसका उतना ही प्रबल विरोधी है जितना पूंजीवादी सम्पत्ति के अन्य रूपों का।

ठीक ऐसे ही वर्ग सचेत सर्वहारा वैश्वीकरण का विरोधी नहीं है। बल्कि वह वैश्वीकरण का सबसे प्रबल समर्थक है और वह चाहता है कि राष्ट्रों के बीच की सारी दीवारें समाप्त हो जायें। वह साम्राज्यवाद व पूंजीपतियों को चुनौती देता है कि एक हद के वैश्वीकरण के बाद वे राष्ट्रों की सीमाएं खत्म नहीं करेंगे और वे मंडियों, विशेषकर श्रम मंडियों के कई संस्तरों को बनाये रखेंगे। वर्ग सचेत सर्वहारा सांस्कृतिक पार्थक्य व राष्ट्रीय अलगाव नहीं चाहता। वर्ग सचेत सर्वहारा जिस चीज की मुखालफत करता है वह अपने आप में वैश्वीकरण नहीं बल्कि वैश्वीकरण की आड़ में सर्वहारा और अन्य मेहनतकश वर्गों पर साम्राज्यवादियों व पूंजीपतियों का सम्मिलित हमला है। वर्ग सचेत सर्वहारा इस हमले को मुख्य मुद्दा बनाना चाहता है, परन्तु भांति-भांति के भ्रमित राष्ट्रवादी वैश्वीकरण के अमूर्त—वर्गेतर विरोध द्वारा इस हमले को मुख्य मुद्दा नहीं बनाना चाहते। हिन्दुस्तानियों की राष्ट्रीय संस्कृति, तिरंगे के गौरव, भारतीय पहचान जैसी बातों में वर्ग सचेत सर्वहारा की कोई दिलचस्पी नहीं है। वह इनके बाजारूपन को करीब से देख चुका है। वह सर्वहारा संस्कृति, लाल झंडे व क्रांतिकारी पहचान के प्रति समर्पित है और इसी जमीन पर खड़ा हो कर साम्राज्यवादी हमले को मुख्य मुद्दा बनाता है। वह साम्राज्यवादी वैश्वीकरण की खिलाफत करता है और समाजवादी वैश्वीकरण के पक्ष में है।

बिल्कुल ऐसे ही वह न तो अर्थव्यवस्था के पूंजीवादी संरक्षणवादी नियंत्रण के लिये लड़ता है और न ही उसके खात्मे के लिये। 'लाइसेन्स-कंट्रोल राज' अथवा 'मुक्त बाजार पूंजीवाद दोनों ही सर्वहारा के मुद्दे नहीं हैं। वह दोनों का विरोधी है। दूरगामी तौर पर वह समाजवादी योजनाबद्धता के लिये लड़ता है और फौरी तौर पर अपने जीवन निर्वाह की स्थितियों के बद्तर होने के खिलाफ। गौस्पलान की बातें करते हुए वह कंट्रोल के राशन की दुकान को खोले रखने के लिये जद्दोजहद करता है।

जिस मात्रा में हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन में दक्षिणपंथी विचारों ने घुसपैठ की हुई है, उसके मद्देनजर उक्त अवस्थितियों का खुलासा जरूरी है। देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के लिये यह बहुत आवश्यक है कि वे अपने साम्राज्यवाद विरोध की राजनीतिक अवस्थितियों और संशोधनवादियों के साम्राज्यवाद विरोध के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचें। यदि हर महत्वपूर्ण मुद्दे पर ऐसा नहीं किया जाता है तो साम्राज्यवादी हमले को रोकने एवं साम्राज्यवाद को पीछे ढकेलने में हम विफल रहेंगे। आज साम्राज्यवाद और देशी पूंजीपतियों के बीच सांठ-गांठ की नयी अवस्था में राष्ट्रवादी जमीन से जन्म लेने वाला साम्राज्यवाद विरोध पुराना पड़ चुका है और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार मार्का कार्यक्रम अर्थहीन हो चुके हैं। आज सर्वहारा के वर्गीय हितों पर आधारित साम्राज्यवाद विरोध ही उसके मित्र वर्गों (गरीब किसानों व निम्न पूंजीपति वर्ग के अन्य हिस्सों) के हितों की हिफाजत कर सकता है। आज कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को सर्वहारा के मित्र वर्गों के बीच यह बात साफ तौर पर रखने की जरूरत है कि उनकी बुरी हालत में अच्छा खासा योगदान घरेलू पूंजीवाद के संकट व असमान विकास का है, साम्राज्यवाद तो अपने संकट को यहां हस्तांतरित करके सर्वहारा और उसके मित्र वर्गों के लिये स्थितियों को और विकराल बना रहा है। चूंकि साम्राज्यवाद यहां घरेलू पूंजीपति वर्ग को अपना आधार बनाकर आ रहा है इसलिये इस चरण के साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों को बुर्जुआ राष्ट्रवादी नारों के तहत नहीं लड़ा जा सकता है।

भारतीय पूंजीपति वर्ग के साम्राज्यवाद के साथ एकीकरण की वर्तमान अवस्था दोनों के लिये लाभदायक है, इसमें दोनों के वर्गीय हितों की पूर्ति हो रही है।

जहां तक साम्राज्यवाद की बात है, उसके लिये यह साफ हो चुका है कि राष्ट्रीय-मुक्ति संघर्षों की एक पूरी लहर और समाजवादी व्यवस्थाओं के निर्माण के एक चरण के अनुभव के बाद आज दुनिया के जनमानस की चेतना इतनी पिछड़ी नहीं रह गयी है कि वह किसी देश में सीधे सैनिक दखल करके उसके बाजार पर कब्जा कर ले। ऐसा सैनिक दखल अब स्वतः ही सशस्त्र प्रतिरोध युद्ध को जन्म देने लगा है और प्रतिरोध युद्ध की अवस्था में उस देश का बाजार, मुनाफा देने वाला बाजार ही नहीं बचता। इसलिये उसने इस स्थिति को स्वीकारा है कि अब किसी देश के राष्ट्रीय-बाजार में वह घरेलू बुर्जुआ के साथ किये गये किसी समझौते के तहत ही दाखिल हो सकता है। कोई कठपुतली तानाशाह अथवा ऐसा प्रशासक जो घरेलू बुर्जुआ के बड़े हिस्से को स्वीकार्य न हो, का इंतजाम भी पर्याप्त नहीं है। निस्संदेह संकटग्रस्त साम्राज्यवाद को अपने बाजारों का विस्तार करने की बहुत जरूरत है। भारत जैसे देशों का घरेलू बाजार न केवल इस विस्तार का अंग बन सकता है बल्कि वह एक मायने में साम्राज्यवाद के लिये लगभग नई मंडी है। अतः साम्राज्यवाद के वर्गीय हित यहां सधते हैं और एल-सालवाडोर अथवा चाड की तुलना में यहां आने से उसके संकट का ज्यादा समाधान होता है।

भारत के घरेलू बुर्जुआ के लिये साम्राज्यवाद का यहां आना व पैर जमाना बाजार के एक हिस्से का नुकसान है। इस एकीकरण से उसका मार्केट शेयर घटता है। परन्तु दूसरी ओर नई उत्पादन तकनीक एवं अन्य साम्राज्यवादी योगदान से घरेलू बुर्जुआ को मिलने वाले बेशी मूल्य की कुल मात्रा में वृद्धि होती है। अर्थात् उसके मार्केट शेयर के घटने के बावजूद उसके विकास के रास्ते खुलते हैं। साम्राज्यवाद से एकीकरण किये बगैर इन्हें खोलना काफी मुश्किल था-मसलन कम्प्यूटर व नई अर्थव्यवस्था, सड़क परिवहन क्षेत्र, प्राकृतिक गैस आधारित उत्पादन इत्यादि। आज जब घरेलू बुर्जुआ की प्रतियोगितात्मक क्षमता बढ़ चुकी है और उसमें यह आत्मविश्वास पैदा हुआ है कि साम्राज्यवाद उसे बाजार से बेदखल नहीं कर पायेगा, तब उसने साम्राज्यवाद से लेन-देन के रिश्ते बनाये और अपने घरेलू बाजार का संरक्षण ढीला किया। 80 के मध्य से ही शुरू हो चुका और विशेष तौर पर

1991 के बाद से साम्राज्यवाद के साथ भारतीय बुर्जुआ का यह नया रिश्ता कहीं से भी समर्पण या शिकस्त नहीं है, इसे साझेदारी ही कहा जा सकता है। इसमें मूल बात एक के हितों की कीमत पर दूसरे के हितों की पूर्ति नहीं है। इसमें मूल बात सर्वहारा व अन्य मेहनतकश वर्गों के हितों की कीमत पर अपने-अपने हितों की पूर्ति है।

जहां तक भारतीय बुर्जुआ की बात है, वह चाहता तो म्यांमार अथवा उत्तरी कोरिया की तरह साम्राज्यवाद से अपने अलगाव को बरकरार रख सकता था, वह 60/70 के दशकों की नीतियों को जारी रख सकता था। परन्तु तब उसे 1995 के बाद अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अपने निर्यातों का मार्केट शेयर क्रमशः खोना पड़ता। साम्राज्यवाद की मदद से अपनी घरेलू अर्थव्यवस्था के विकास की इच्छा के अलावा 90 के दशक की नई परिस्थितियों के दबाव (situational pressure) ने भारतीय पूंजीपति वर्ग को साम्राज्यवाद से एकीकरण करने के लिये प्रेरित किया है। परन्तु तब भी नीति परिवर्तन का निर्णय करते समय निर्यात सम्भावनाओं की अपेक्षा घरेलू बाजार का विकास ज्यादा महत्व की बात रही है।

भारतीय अर्थव्यवस्था का साम्राज्यवाद के साथ जो एकीकरण इस दौर में हुआ है वह भविष्य में आगे बढ़ेगा। भारतीय बुर्जुआ और साम्राज्यवाद के बीच की साझेदारी बढ़ेगी। इस बात की बहुत ही क्षीण संभावनाएं हैं कि 'ऑटार्की' के पुराने दिन लौट आयें। परन्तु इस बात का यह मतलब कतई नहीं है कि भारतीय बुर्जुआ और साम्राज्यवाद के बीच का अंतर्विरोध समाप्त हो गया है। भारतीय बुर्जुआ और साम्राज्यवाद के बीच का अंतर्विरोध एकीकरण के इस दौर में भी मौजूद है। आज यह अंतर्विरोध सांठ-गांठ की अवस्था में है। कल, विश्व परिस्थितियों के बदलने पर या घरेलू परिस्थितियों के बदलने पर यह अंतर्विरोध पुनः कलह की अवस्था में दाखिल हो सकता है। ऐसी स्थिति में भारतीय बुर्जुआ का जो व्यवहार आज समर्पण प्रतीत हो रहा है, उसका स्थान विरोध ले लेगा। परन्तु वह विरोध 60 या 70के दशक की जमीन पर खड़े हो कर नहीं होगा। वह इसी उच्च स्तर के एकीकरण के रिश्तों के तहत ही होगा। विरोध, साझेदारी को समाप्त करने की ओर नहीं जायेगा, पहले जैसी संरक्षित, आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के निर्माण की ओर नहीं जायेगा। विरोध, साझेदारी को बनाये रखते हुए अपने हिस्से के लिए सौदेबाजी भर का होगा।

भारतीय पूंजीपति वर्ग — साम्राज्यवाद का दलाल

(Compradore) अथवा कनिष्ठ साझेदार (Junior Partner) ?

1947 से लेकर आज तक, किसी भी मुकाम पर भारत के पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया और यह कर भी नहीं सकता था। तब से लेकर आज तक, कम या ज्यादा मात्रा में भारत में साम्राज्यवाद की मौजूदगी लगातार बनी रही है। ऐसे में भारतीय शासक वर्ग की राजनैतिक व आर्थिक आजादी वैसी कभी नहीं रही है जैसी किसी समाजवादी देश की। और न ही भारत में अनौपनिवेशीकरण (de-colonization) की प्रक्रिया अपनी तार्किक परिणति तक पहुंच पायी है। भारतीय पूंजीपति वर्ग के अपने अतीत व समझौतापरस्त चरित्र ने अनौपनिवेशीकरण को उसकी परिणति तक पहुंचने नहीं दिया, उसे बीच में ही अधूरा छोड़ दिया। 1991 के बाद की साम्राज्यवादी घुसपैठ का आधार भी भारतीय पूंजीपति वर्ग के हित हैं।

भारतीय पूंजीपति वर्ग एवं साम्राज्यवाद के बीच के रिश्ते बराबरी के रिश्ते नहीं हैं। ये गैर बराबरी के रिश्ते (unequal relations) हैं, जिनमें साम्राज्यवाद हावी (dominant) रहता है। परन्तु इन रिश्तों की हालत ऐसी नहीं है कि भारतीय शासक वर्ग अपने अस्तित्व के लिये साम्राज्यवाद पर आश्रित (dependent) ही रहे, कि साम्राज्यवाद से स्वतंत्र उसका कोई वजूद ही न हो। माओ ने दलाल (compradore) उसे माना है जिसका अपना स्वतंत्र वजूद न हो और जो अपने अस्तित्व के लिये साम्राज्यवाद पर आश्रित हो। आज का भारतीय पूंजीपति वर्ग इस श्रेणी में नहीं रखा जा सकता क्योंकि साम्राज्यवाद पर इसकी निर्भरता ऐसी नहीं है कि यह उससे संघर्ष न कर सके, उससे सौदेबाजी न कर सके, उससे दूरी न बना सके, भारतीय पूंजीपति वर्ग अपने अस्तित्व के लिये साम्राज्यवाद पर आश्रित नहीं है। यह अपने विकास के लिये साम्राज्यवाद से रिश्ते कायम करता है और परिस्थिति व आवश्यकता अनुसार इन्हें घटाता-बढ़ाता रहता है। अधिरचना और मूलाधार दोनों में ही दलाल मालिक रिश्तों से कहीं भिन्न वरिष्ठ साझेदार-कनिष्ठ साझेदार के अन्तर्सम्बन्ध भारतीय पूंजीपति वर्ग एवं साम्राज्यवाद के बीच दिखाय पड़ते हैं। इस साझेदारी में भारत के मजदूरों, मेहनतकशों से लूटे गये अतिरिक्त मूल्य में से बड़ा हिस्सा भारतीय पूंजीपति वर्ग के हिस्से में आता है जबकि छोटा हिस्सा साम्राज्यवाद की झोली में गिरता है। अर्थात् पूरी दुनिया में अपनी कनिष्ठ साझेदार की हैसियत के बावजूद अपने देश की सीमाओं के भीतर भारतीय पूंजीपति वर्ग ही वरिष्ठ साझेदार बनता है, बावजूद इस बात के कि भारत के भीतर अपने निवेशित पूंजी पर भी साम्राज्यवाद अति मुनाफा कमाता है।

विदेश व्यापार की चर्चा करते समय सकल घरेलू उत्पाद की तुलना में भारत के आयात व निर्यात के स्तर की जांच पड़ताल की जा चुकी है। यह स्पष्ट है कि भारत एक विशाल बाजार है और भारतीय पूंजीपति वर्ग इसके लिये उत्पादन करवाता है, कि वह अपने अस्तित्व के लिये इस घरेलू बाजार पर आश्रित है न कि साम्राज्यवाद की टुकड़खोरी पर। आर्थिक सुधारों व वैश्वीकरण के एक दशक बाद अब जब साम्राज्यवाद एवं भारतीय पूंजीपति वर्ग के अन्तरसम्बन्धों ने एक निश्चित रूप ले लिया है, तब यदि भारत के निर्यातों की प्रकृति पर गौर करें तो हम पाते हैं कि भारत कहीं से भी मात्र कच्चा माल निर्यात करने वाला देश नहीं है। कृषि उत्पादों व कच्ची धातुओं का हिस्सा भारत के निर्यात में 18% से कम हो चुका है। इसके विपरीत औद्योगिक सामग्री का हिस्सा 78% से ज्यादा है। मुख्यतः तैयार माल का निर्यात करने वाला भारतीय पूंजीपति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में छोटा खिलाड़ी है (मात्र 0.8% मार्केट शेयर)। तैयार माल में भारत के मुख्य निर्यात टैक्सटाइल, सूती कपड़े, रेडीमेड वस्त्र, चमड़े की वस्तुएं, आभूषण, रसायन, इंजीनियरिंग वस्तुएं इत्यादि हैं। जहां एक ओर भारत कच्चे माल से तैयार माल के निर्यातक में तब्दील हो चुका है वहीं दूसरी ओर यह ऐसा मुल्क नहीं है जो तकनीक व पूंजीगत सामग्री का निर्यात करता हो (इसके ज्यादातर निर्यात निम्न स्तर के या प्राथमिक स्तर के तैयार माल हैं)। यदि ऐसा हो जाये तो साम्राज्यवाद और भारतीय पूंजीपति के अन्तरसम्बन्धों में गैर बराबरी का एक बहुत ही महत्वपूर्ण तत्व समाप्त हो जायेगा।

90 के दशक में विश्व व्यापार को अपने वर्ग हित में नियंत्रित करने के लिये साम्राज्यवादियों ने विश्व व्यापार संगठन को एक शक्तिशाली मंच के बतौर गठित किया। यह मंच भारतीय पूंजीपति वर्ग की स्वाधीनता एवं सम्प्रभुता को सीमित करता है। ऐसे में यदि भारत का विदेश व्यापार पुराने निम्न स्तर पर ही बना रहता है तब भी साम्राज्यवाद एवं भारतीय पूंजीपति के रिश्तों में साम्राज्यवाद पहले से ज्यादा हावी हो जाता है। वैसे W.T.O. व्यापार के अलावा सीधे-सीधे बौद्धिक सम्पदा, पूंजीनिवेश इत्यादि मामलों में साम्राज्यवादी अवस्थिति से भारतीय

पूंजीपति को कमजोर कर रहा है। W.T.O. के अलावा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक अथवा भारत सहायता संघ (Aid India Consortium) जैसे संगठनों की हैसियत में भी वृद्धि हुई है। इनसे अलग पूरी साम्राज्यवादी दुनिया को इन दिनों जितना सुदृढ़ होने का मौका मिला है और परिणामस्वरूप उत्तर अमेरिका मुक्त व्यापार संधि (NAFTA), यूरोपीय संघ, एशिया-प्रशांत आर्थिक सहकार (APEC) जैसे संगठनों ने आकार ग्रहण किया है, उस सब से भी साम्राज्यवाद एवं भारतीय पूंजीपति वर्ग के बीच के शक्ति संतुलन में भारतीय पूंजीपति वर्ग की स्थिति पहले के मुकाबले कमजोर हुई है। परन्तु फिर भी यह रिश्ता इतना एक तरफा नहीं हो गया है कि भारतीय पूंजीपति के पास हिलने-डुलने की जगह ही न बची हो और वह अपने हर फैसले के पहले साम्राज्यवाद की आंख के इशारे का इंतजार करे।

आज भारत पर कुल विदेशी कर्ज 100 अरब डालर के करीब है। 1991 में यह 83 अरब डालर था और तब ये आशंकाए व्यक्त की जा रही थीं कि भारत साम्राज्यवादियों के कर्ज जाल में फंस जायेगा। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। भारत अब भी कर्जजाल के बाहर है। बल्कि कर्ज के मामले में भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद के दबाव में आने के बजाय आर्थिक सुधारों के काल में अपनी स्थिति सुधार ली है—1991 में सम्पूर्ण विदेशी कर्ज उतारने के लिये भारत को अपने 3½ माह का सकल घरेलू उत्पाद देना पड़ता जबकि 2002 में यह अदायगी 2½ माह के उत्पाद से की जा सकती है। 1990 में भारत का कर्ज भुगतान अनुपात (debt service ratio) 32.7% था जब कि 1999 आते-आते यह 20% से कम हो गया था। यहां मुख्य बात यह है कि भारतीय पूंजीपति वर्ग को साम्राज्यवादियों से कर्ज लेने की जरूरत पड़ती रहती है परन्तु उसकी निर्भरता इतनी नहीं है कि वह उनके कर्ज भरने की स्थिति में ही न हो और उसे उन्हीं के निर्देशानुसार चलना पड़े। आड़े वक्त में लिये गये कर्ज को अथवा नयी विकास योजनाओं के लिए लिये गये कर्ज को भारतीय पूंजीपति चुकाता रहता है। कर्ज जाल में फंसे होने के चलते साम्राज्यवादियों की बंधुआगिरी करना भारतीय पूंजीपति वर्ग की मजबूरी नहीं है।

1990/91 के पहले भारत में जितना बेशी मूल्य पैदा हो रहा था, उसका अधिकांश हिस्सा भारत में ही पुनः निवेशित हो रहा था। इसका एक छोटा हिस्सा ही भारत के बाहर विदेशी ऋणों पर ब्याज, आयात के जरिये मुनाफे, विदेशी कम्पनियों द्वारा भारत में कमाये मुनाफे, परोपजीवी वर्गों के सदस्यों के विदेशों में खर्च, चोरी से विदेशी बैंकों में जमा किया जा रहा धन इत्यादि के रूप में साम्राज्यवाद को हस्तांतरित हो रहा था। आर्थिक सुधारों के एक दशक बाद जब संरक्षण लगभग समाप्त है, जब देश के भीतर और देश की सीमाओं के आर-पार पूंजी के आवागमन की बाधाएं काफी हद तक हटायी जा चुकी हैं तब भी साम्राज्यवाद के हिस्से के बेशी मूल्य में कोई गुणात्मक वृद्धि नहीं हुई है। साम्राज्यवाद को बेशी मूल्य संचय में से मिलने वाले हिस्से की संरचना बदली है—FDI/FPI से होने वाली आमदनी बढ़ी है, किसी हद तक आयात से होने वाले मुनाफा बढ़ा है, तो दूसरी ओर विदेशी ऋणों पर ब्याज की देनदारी घटी है। परन्तु कुल में उसका हिस्सा लगभग पहले जैसा ही है।

कुल मिलाकर साम्राज्यवाद के सापेक्ष भारतीय पूंजीपति की स्थिति ऐसी है कि खुली प्रतियोगिता में भी (संरक्षित अर्थव्यवस्था की समाप्ति पर भी) वह अपने शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी के सामने टिका हुआ है। ऐसे में इस बात की बहुत क्षीण सम्भावनाएं हैं कि वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठेगा और साम्राज्यवाद के टुकड़खोर दलाल में तब्दील हो जायेगा। आज यह दलाल नहीं है, इसमें कोई संदेह नहीं है। आज, वैश्वीकरण की वर्तमान अवस्था में इसके व्यवहार को देखते हुए, इसके चरित्र को यदि कोई संज्ञा दी जानी है तो 'साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझेदार'

ही सबसे उपयुक्त है। साम्राज्यवादी व्यवस्था के चौखटे के भीतर की नयी स्थितियों अर्थात् राजनैतिक दबाव, सैनिक दहशत, गैर-बराबरी पूर्ण आर्थिक संधियां, कूटनीतिक अलगाव, तकनीकी वैज्ञानिक पिछड़ेपन इत्यादि स्थितियों की मौजूदगी में भारतीय पूंजीपति वर्ग अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता का समर्पण नहीं कर रहा है और अपनी आर्थिक ताकत को भी नहीं खो रहा है हालांकि पहले के मुकाबले उसके ऊपर दबाव काफी ज्यादा बढ़ा है। अपनी लड़ाई के रणकौशल तय करते समय भारतीय सर्वहारा एवं उसके मित्र वर्गों को अपने मुख्य शत्रु की उक्त ताकत व हैसियत को एक पल के लिये भी नजरअंदाज नहीं करना चाहिए।

भारतीय कृषि की वर्तमान स्थिति

21 वीं सदी के आरम्भ में भारतीय कृषि की स्थिति हमें ढेर सारे नए निष्कर्षों तक पहुंचने तथा ढेर सारी पुरानी बातों को छोड़ने के लिये बाध्य कर रही है।

आज हालांकि भारत की कुल आबादी का 72% से अधिक देहात में रहता है, लेकिन कृषि कार्यों में देश के कुल 40 करोड़ कामगारों में से केवल 23.4 करोड़ (58%) ही संलग्न हैं। यानि कि देहात में निवास करने वाली आबादी का अच्छा-खासा हिस्सा, लगभग 1/5, गैर-कृषि कार्यों से अपना पेट पालता है। कृषि कार्यों में संलग्न इन 23½ करोड़ लोगों में से 12.7 करोड़ छोटे-बड़े तरह-तरह के किसान एवं भूस्वामी हैं, जबकि 10.7 करोड़ लोग खेतिहर सर्वहारा हैं। कृषि सर्वहारा की एक खास बात यह है कि इसमें से लगभग आधे (5 करोड़) महिला मजदूर हैं। दूसरी ओर यदि देश की कुल कामगार आबादी में किसानों की संख्या पर गौर करें तो हम पाते हैं कि अब भारत किसानों का देश नहीं रहा, कि कुल कामगारों में किसान 1/3 से कम रह गये हैं (वैसे इन 12.7 करोड़ किसानों में से निचली पर्त के 5 करोड़ किसानों को किसान मानना और अर्ध-सर्वहारा न मानना राजनैतिक-अर्थशास्त्र के हिसाब से गलत है)। समग्रता में 21 वीं सदी के आरम्भ का भारतीय देहात अपनी वर्गीय संरचना में आज से 4-5 दशक पहले के देहात से नितांत भिन्न है, किसानों के देहात से यह सर्वहाराओं/अर्ध-सर्वहाराओं के देहात में बदल चला है। भारतीय देहात के इस नये वर्गीय-संघटन (Class-Composition) का आधार नयी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था है।

भारत दुनिया के उन अपवाद देशों में है जहां देश के भूभाग के बड़े हिस्से पर खेती होती है। भारत के लगभग आधे भूभाग (14.2 करोड़ हैक्टेयर) पर खेती होती है। कुछ जगह दोहरी /तिहरी फसलों के कारण आये साल कुल बोये जाने वाला क्षेत्रफल करीब 19 करोड़ हैक्टेयर है। सरकारी दावा है कि अब तक 9.5 करोड़ हैक्टेयर भूमि (कुल खेती योग्य भूमि के 2/3) पर सिंचाई का इंतजाम हो चुका है। परन्तु सच्चाई यह है कि मात्र 5.5 करोड़ हैक्टेयर पर ही सिंचाई हो पा रही है और शेष 8.7 करोड़ हैक्टेयर इन्द्र देवता के भरोसे है। यानि कि 38½% भूमि सिंचित है, जबकि 61½% भूमि असिंचित है। ऐसे ही सरकारी भूमि सुधारों की बदौलत देश की कुल खेती योग्य भूमि में से मात्र 1% भूमि भूस्वामियों को बेदखल करके जोतने वालों को बांटी गयी है, 99% भूमि का पुनर्वितरण नहीं हुआ। परन्तु भारतीय कृषि की उक्त सीमाओं-कमियों के बावजूद भारतीय देहात की वर्गीय-संरचना

में बुनियादी फेरबदल हो चुका है। इस परिघटना को जन्म देने वाले मूल कारक जमींदारी व मध्यस्थ उन्मूलन तथा किरायेदारी सुधार के साथ-साथ मुख्यतः भारतीय कृषि का पूंजीवादी बाजार तंत्र से जोड़ा जाना है।

भारतीय कृषि के इस तरीके से पूंजीवादी रूपांतरण में अमरीकी साम्राज्यवाद ने विशेष दिलचस्पी ली। अमरीकी सलाहकारों ने नेहरू कालीन कृषि नीति को तैयार करवाने में काफी भूमिका निभायी। 60-70 के दशक में जिस हरित क्रांति के तहत भारतीय कृषि को बाजार तंत्र के अधीन लाया गया उस हरित क्रांति में अमरीकी मदद केवल सलाहों तक सीमित नहीं थी। यह कृषि अनुसंधान केन्द्रों / विश्वविद्यालयों की स्थापना से लेकर वर्ण संकर बीजों एवं अन्य कृषि आगतों को किसानों में लोकप्रिय बनाने तक थी। अमरीकी साम्राज्यवाद, संयुक्त राष्ट्र संघ की विभिन्न संस्थाओं एवं अन्य साम्राज्यवादी मुल्कों की मदद से भारतीय पूंजीपति वर्ग द्वारा कृषि में जो क्रमिक सुधार किये गये उन्होंने 3-4 दशकों में भारतीय कृषि को बुनियादी स्तर पर बदल डाला। इनकी बदौलत एक नई उत्पादन प्रणाली — पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली — ने भारतीय कृषि में अपनी जगह बना ली।

सिंचाई के कारगर साधनों की कमी के बावजूद आज भारतीय कृषि परम्परागत बीजों पर आधारित नहीं है। बीज के लिये किसान बाजार व्यवस्था से मूलतः जुड़ चुके हैं। 1997/98 में कुल बोये गये क्षेत्रफल में से 75% पर उन्नत किस्म के बीज (HYV) इस्तेमाल किये गये। गेहूं की खेती के 86.1%, धान की खेती के 74.2%, ज्वार के 81.8%, बाजरा के 72.2% और मक्का के 57.1% क्षेत्रफल में वर्ण संकर बीज इस्तेमाल किये गये। इनके लिये किसान पूंजीवादी बाजार पर निर्भर हैं।

इसके साथ-साथ देश के कुल कृषि कार्य में इस्तेमाल होने वाली उर्जा को देखा जाये तो कृषि का बाजार व्यवस्था से जुड़ाव और स्पष्ट हो जाता है। आज बैल, भैंसा, ऊंट, इत्यादि जानवरों से प्राप्त होने वाली उर्जा का हिस्सा कृषि कार्यों में घट कर 9.89% रह गया है। बिजली और डीजल का उपयोग जुताई, बुआई, सिंचाई, कटाई, गहाई इत्यादि तरह-तरह के कार्यों में होने लगा है। 1950/51 में देश में 5.1 अरब यूनिट बिजली का उत्पादन हुआ जिसमें से कृषि कार्यों में 0.19 अरब यूनिट (कुल उत्पादन का 3.9%) बिजली इस्तेमाल हुई जबकि उद्योग में 3.19 अरब यूनिट (62.6%)। 1998/99 में भारत में 448.5 अरब यूनिट बिजली का उत्पादन हुआ जिसमें से 140.8 अरब यूनिट (कुल उत्पादन का 31.4%) बिजली कृषि कार्यों में इस्तेमाल हुई, जबकि उद्योग में विद्युत खपत निरपेक्ष अर्थों में तो बढ़ कर 152.04 अरब यूनिट के उच्च स्तर तक पहुंची, लेकिन सापेक्षिक अर्थों में इसका हिस्सा घट कर 33.9% रह गया। कृषि कार्यों में बिजली का इतने बड़े पैमाने पर उपयोग मूलतः पिछले तीन दशकों में अस्तित्व में आयी एक नयी चीज है जिसने कृषि प्रक्रियाओं एवं कृषि उत्पादन सम्बन्धों को उल्लेखनीय हद तक प्रभावित किया है। बिजली के इस्तेमाल ने जहां एक ओर कृषि को भारतीय इजारेदार पूंजीपतियों (विशेष कर सार्वजनिक क्षेत्र) पर निर्भर बनाया है वहीं उसने कृषि कार्यों में अल्प कालिक अनुबंध पर काम करने वाले उजरती मजदूरों के इस्तेमाल को भी बढ़ाया है।

आर्थिक सुधारों के दशक में भारत में 20 लाख नये ट्रैक्टर बिके। अब भारतीय कृषि हर वर्ष 2.5 लाख नये ट्रैक्टर खपाने लगी है। भारत के गांव में ट्रैक्टरों का इस्तेमाल ने केवल अपनी जमीन जोतने और अपने खेती से सम्बन्धित अन्य कार्यों (सिंचाई, गहाई इत्यादि) में हो रहा है बल्कि दूसरों की खेती के लिये इन्हें किराये पर भी उठाया जाता है। ट्रैक्टरों के बढ़ते इस्तेमाल ने परम्परागत स्थाई हलवाहों के समुदाय के आकार को बहुत हद तक सिकोड़ा है। भारतीय कृषि में ट्रैक्टरों एवं अन्य मशीनों का बढ़ते पैमाने पर उपयोग निस्संदेह नये वर्ग सम्बन्धों —

पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों — को पुराने अर्ध सामन्ती सम्बन्धों की जगह स्थापित कर रहा है। आज भारत की 1/4 खेती योग्य भूमि की जुताई सीधे-सीधे ट्रैक्टरों से हो रही है। वैसे खेती का मशीनीकरण खेती के पूंजीवादीकरण की कोई आवश्यक शर्त नहीं है। मार्क्स ने ब्रिटिश खेती के जिस पूंजीवादीकरण का वर्णन किया है वह बिजली एवं ट्रैक्टरों के बिना ही हो गयी थी। लेकिन कृषि का मशीनीकरण जहां एक ओर कृषि में पूंजीवाद के विकास का परिणाम होता है, वहीं दूसरी ओर वह कृषि में पूंजीवाद के विकास की प्रक्रिया को त्वरित भी करता है। भारत में इस वक्त ऐसा ही हो रहा है। भारतीय कृषि में पूंजीवाद उस 1/4 भूभाग तक सीमित नहीं है जहां ट्रैक्टरों से जुताई हो रही है। बात दरअसल यह है कि चूंकि भारतीय कृषि में मूलतः पूंजीवाद स्थापित हो चुका है इसलिये अन्य चीजों के अलावा भारतीय कृषि की उत्पादक शक्तियों में 30-35 लाख ट्रैक्टर भी हैं और इनकी मौजूदगी कृषि में पूंजीवाद के विकास को त्वरित कर रही है।

1960/61 में भारत में 1.5 लाख टन रासायनिक खाद का उत्पादन हुआ, जबकि 4.19 लाख टन का आयात किया गया। चार दशक बाद 2000/01 में भारत में 1 करोड़ 47 लाख टन रासायनिक खाद का उत्पादन हुआ और 20.9 लाख टन का आयात किया गया (भारत पोटाश को पूर्णतः आयात करता है)। कृषि के लिहाज से उड़ीसा जैसे पिछड़े प्रांत में भी खाद की औसत खपत 44 किग्रा / हैक्टेयर है जबकि आंध्र प्रदेश में 158 किग्रा/ हैक्टेयर, तमिलनाडु में 163 किग्रा/ हैक्टेयर एवं पंजाब में 184 किग्रा / हैक्टेयर और अखिल भारतीय औसत 95 किग्रा / हैक्टेयर है। भारत की तुलना में संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी विकसित कृषि वाले देश में खाद की खपत का राष्ट्रीय औसत 113 किग्रा / हैक्टेयर है। जापान जहां रासायनिक खाद का बहुत अधिक प्रयोग होता है, का राष्ट्रीय औसत 352 किलो / हैक्टेयर है। कृषि में रासायनिक खादों का बढ़ता इस्तेमाल, खाद इस्तेमाल करने वाले किसानों / फार्मरों एवं खाद उत्पादन करने वाले इजारेदार पूंजीपतियों के बीच विकसित हो रहे पूंजीवादी अन्तरसम्बन्धों की अभिव्यक्ति है।

निवेश के बजाय यदि उत्पाद के दृष्टिकोण से भारतीय कृषि का अध्ययन किया जाये तब भी बाजार तंत्र पर इसकी बढ़ती निर्भरता और उत्पादों की प्रकृति में व्यापक परिवर्तन ही दिखाई पड़ता है।

1950/51 में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र (जंगलात एवं मत्स्य) का भारतीय अर्थव्यवस्था में योगदान 59.2% था। 1999/2000 में यह घट कर 27.6% रह गया (उद्योग 24.4%) हालांकि इस दौरान कुल कृषि एवं सम्बद्ध उत्पाद में लगभग 4 गुना वृद्धि हुई। इस आधी शताब्दी में यह तो तय ही हो गया है कि उत्पाद के लिहाज से अब भारत कृषि प्रधान देश नहीं रह गया है। दूसरी ओर देहाती भारत अब मूलतः गेहूँ, चावल, दालें पैदा करने वाला नहीं रहा। सन 2000/01 में भारत में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्रों के उत्पाद की कुल मालियत 5,61,717 करोड़ रुपये थी। इसमें 1,70,205 करोड़ रुपये (कुल का 30.3%) का योगदान मत्स्य एवं पशु उत्पादों का रहा। आज भारत से निर्यात होने वाली खाद्य सामग्री में चाय, मसाले अथवा अनाज पहले नम्बर पर नहीं हैं। कुल कृषि निर्यात में मत्स्य अब पहले नम्बर पर है और इसका योगदान 23% के करीब हो चुका है। कुल कृषि व सम्बद्ध उत्पाद में गेहूँ का योगदान 8.38% (47,091 करोड़ रुपये) रह गया है जबकि दुग्ध पदार्थ का योगदान 18.4%(101,909 करोड़ रुपये) हो गया। ऐसी हालत में यदि निजी खपत के लिये उत्पादन अथवा 'बाजार उन्मुख उत्पादन' की बहस का सही निपटारा किया जाना है तब विश्लेषण के दायरे को गेहूँ, चावल, दालें, तिलहन तक सीमित रखना एकांगी एवं गलत होगा। वैसे तो आज गेहूँ, चावल, दालों का उत्पादन भी 'निजी उपभोग' के लिये ही नहीं हो रहा है। इनका

बड़ा हिस्सा बाजार में पहुंच रहा है। परन्तु कृषि उत्पाद के दायरे को विस्तृत करने के साथ ही भारतीय कृषि उत्पादों का 'बाजार उन्मुख' चरित्र पूर्णतः उजागर हो जाता है।

बाजार तंत्र से कृषि आगतों (agricultural inputs) की खरीद और बाजार में कृषि उत्पादों की बिक्री की परिघटना के जोर पकड़ने से शोषण की प्रक्रिया (mode of exploitation) में एक अहम् परिवर्तन यह आया है कि बाजार में असमान विनिमय (unequal exchange) के जरिये उद्योग अब कृषि का अच्छा-खासा शोषण करने लगा है। बाजार तंत्र के जरिये अब कृषि क्षेत्र से अच्छी-खासी मात्रा में बेशी मूल्य औद्योगिक एवं व्यापारिक पूंजीपतियों को हस्तांतरित होने लगा है।

आज भारतीय कृषि की एक अन्य विशेषता यह है कि इससे पैदा होने वाले बेशी मूल्य में भू-लगान का हिस्सा बहुत कम हो चुका है। आज भारतीय राजसत्ता के बजट (केन्द्रीय व प्रांतीय)में भू-राजस्व का योगदान नगण्य है। समग्र राष्ट्रीय राजस्व का यह मात्र 0.6% रह गया है। भू-राजस्व के अलावा भू-स्वामियों द्वारा जमीन के किराये के बतौर वसूली जाने वाली लगान का आकार भी सिकुड़ा है। आज भारत में होने वाली खेती में से 9/10 से अधिक क्षेत्रफल खुदकाशत है और कुल प्रचालित जोतों में से भी 1/8 से कम जोतें (पूर्णतः या अंशतः दोनों) किसी भी प्रकार की किरायेदारी (land tenancy) के तहत हैं। भारतीय खेती के मुख्य हिस्से - 9/10 से अधिक कृषि क्षेत्रफल एवं 7/8 प्रचालित भू-जोतों पर हो रही खुद काशत खेती से किसान उद्योगपतियों को मुनाफा, बैंकों अथवा निजी सूदखोरों को ब्याज इत्यादि के रूप में बेशी मूल्य तो हस्तांतरित करते हैं परन्तु वे जो भू-लगान अदा करते हैं उसकी मात्रा नगण्य है। यह स्थिति ब्रिटिश काल से एकदम भिन्न है। इस मायने में अर्ध-सामंती शोषण का एक प्रमुख रूप 'भू-लगान' देश की खेती में बहुत कम दिखाई पड़ता है। उसका विस्थापन उद्योगपति के मुनाफे और बैंकर के ब्याज से हो चुका है।

दूसरी ओर यह भी देखने में आ रहा है कि किरायेदारी 1981/82 के आसपास अपने न्यूनतम (कुल कृषि क्षेत्रफल के 7.2%) पर पहुंची और फिर यह थोड़ी बढ़ी (1991/92 में कुल कृषि क्षेत्रफल का 8.3%)। यानि कि किरायेदारी से खुद काशत खेती की ओर रुझान 90 का दशक आते-आते कुछ थमा और विपरीत गति देखी गयी। परन्तु इस विपरीत गति की जमीन कहीं से भी अर्ध-सामंती नहीं है। यह देखा गया कि खेतिहर अर्ध-सर्वहाराओं एवं छोटे किसानों में दूसरों की भूमि काशत पर लेने की प्रवृत्ति में कोई वृद्धि नहीं हुई है। किरायेदारी में जो थोड़ी बहुत वृद्धि हो रही है वह मूलतः ऐसे किसानों की गतिविधियों के कारण है जिनकी भू-जोतें 25 एकड़ से बड़ी हैं। इन बड़े किसानों ने अपने द्वारा किराये पर लिये जाने वाले क्षेत्रफल को दो गुने से ज्यादा बढ़ाया। किरायेदारी में हुई हाल की वृद्धि में थोड़ा योगदान ऐसे किसानों का भी है जिनके पास 10 से 25 एकड़ तक भूमि है परन्तु ऐसे किसानों का कोई योगदान नहीं है जिनके पास 5 एकड़ से कम जमीन है। 90 के दशक में विपरीत किरायेदारी (reverse tenancy) की इस प्रवृत्ति के स्पष्टतः अस्तित्व में आने से भारतीय कृषि में पूंजीवाद के विकास के उच्च स्तर का अंदाजा लगता है।

भारतीय समाज में 90% से ज्यादा भूमि किरायेदारी सम्बन्धों के दायरे से बाहर जा चुकी है। यह खुद काशत है - यानि कि इस पर या तो मालिक किसान स्वयं अपनी मेहनत से खेती करते हैं या फिर भू-स्वामी उजरती श्रम के शोषण द्वारा अपनी देख-रेख में इस पर खेती करवाते हैं। ऐसी हालत में कृषि क्रांति में हमारा पुराना केन्द्रीय नारा "जमीन जोतने वाले की" अप्रासंगिक हो चुका है। इसे शेष 1/10 भूमि (या 1/8 जोतों), जो कि भू-काशतकारी सम्बन्धों के दायरे में है, के सम्पूर्ण पर भी लागू नहीं किया जा सकता। विपरीत काशतकारी के

तहत भूमि पर इस नारे का क्रियान्वयन एक प्रतिक्रियावादी कार्यवाही है। नतीजतन “जमीन जोतने वाले की” नारे की प्रासंगिकता बहुत छोटे भूभाग तक सीमित हो चुकी है। यह सही है कि अभी किसानों में जमीन के लिये भूख है। परन्तु इसे शांत करने की चेष्टा करना और इस चेष्टा में यहां तक सोचना कि खेतिहर सर्वहारा को भी जमीनें बांटी जायें और उन्हें भी किसानों में तब्दील किया जाये, गलत है। यदि किसी समाज में खेतिहर सर्वहारा बहुत थोड़ी गिनती में हों तो वहां भूमि-सुधार के तहत उन्हें अपवाद स्वरूप जमीन दी जा सकती है। परन्तु जिस समाज के देहात में एक बड़े वर्ग के बतौर खेतिहर सर्वहारा मौजूद हों वहां उन्हें किसानों में तब्दील करने की चेष्टा एक प्रतिगामी कार्यवाही है, मानव इतिहास के एक अग्रिम वर्ग को एक पिछड़े वर्ग में तब्दील करने की कार्यवाही है। आज भारतीय समाज का विकास जिस उन्नत स्तर तक हो चुका है उसमें कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को खेतिहर सर्वहारा के लिये भी संगठित एवं असंगठित क्षेत्र के औद्योगिक सर्वहाराओं के कार्यक्रम से मिलता-जुलता कार्यक्रम बनाना चाहिए। मेहनतकश किसानों की विभिन्न श्रेणियों के लिये भी पूंजीवाद-विरोधी कार्यक्रम तैयार करने पड़ेंगे।

उद्योग द्वारा कृषि के अत्यधिक शोषण के बावजूद, बैंकों के तंत्र द्वारा ग्रामीण बचत पर हाथ साफ किये जाने के बावजूद भारतीय कृषि में पूंजी निर्माण हो रहा है। आज भारतीय कृषि में न केवल सामान्य पुनरुत्पादन (simple reproduction) हो रहा है बल्कि कृषि में नवीन पूंजी निर्माण विस्तृत पैमाने के पुनरुत्पादन (extended reproduction) को दर्शाता है। किसी भी पूंजीवादी समाज में उद्योग एवं सेवा क्षेत्र की अपेक्षा कृषि में नवीन पूंजी निर्माण का स्तर नीचा होता है। भारत में भी कृषि में नवीन पूंजी निर्माण इस क्षेत्र के आकार के सापेक्ष कम है। सन 2000/01 में भारत में जो नवीन पूंजी निर्माण हुआ वह उस वर्ष के सकल घरेलू उत्पाद का 21.9% रहा। परन्तु भारतीय कृषि में होने वाला नवीन पूंजी निर्माण पूरे देश के सकल घरेलू उत्पाद का मात्र 1.3% था। अर्थात् जिस कृषि क्षेत्र का योगदान देश के सकल घरेलू उत्पाद में 27-28% रहा, उसी कृषि में नवीन पूंजी निर्माण देश के कुल नवीन पूंजी निर्माण का 5.9% ही था। निस्संदेह पूंजीवादी व्यवस्था में कृषि क्षेत्र अन्य क्षेत्रों की तुलना में पिछड़ेगा ही। 90 के दशक के पहले पुरानी नेहरूवादी नीतियों के काल में कृषि क्षेत्र के पूंजीवादी विकास के लिये स्थितियां अपेक्षाकृत बेहतर थीं। मसलन 1993/94 में ही जब सरकारी नीति आज की अपेक्षा ज्यादा ‘कृषि के अनुकूल’ थी तब कृषि में पूंजी निर्माण सकल घरेलू उत्पाद का 1.6% था या दूसरे शब्दों में कुल राष्ट्रीय पूंजी निर्माण का 7.5% था। उक्त आंकड़े बहुत साफ तौर पर दर्शाते हैं कि अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों की तुलना में न केवल कृषि का विकास धीमा है बल्कि ‘मुक्त बाजार पूंजीवाद’ के दौर में यह खाई और बढ़ रही है।

कृषि में पूंजी निर्माण की खास बात यह है कि सन 2000/01 में इसमें निजी क्षेत्र (किसानों एवं फार्मरों) का योगदान 3/4 था जबकि सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान 1/4 था। 1993/94 से 2000/01 के बीच कृषि पूंजी निर्माण में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा 1/3 से घट कर 1/4 रह गया। इस दौरान कृषि में निजी स्रोतों से पूंजी निर्माण 1993/94 के स्तर 9,056 करोड़ रुपये से बढ़ कर 12,538 करोड़ रुपये (1993/94 की स्थिर कीमतों पर) हो गया जबकि सार्वजनिक पूंजी निर्माण निरपेक्ष तौर पर भी 1993/94 के स्तर 4,467 करोड़ रुपये से घट कर 4,007 करोड़ रुपये रह गया। कृषि में पूंजी निर्माण करने में निजी क्षेत्र (किसानों, फार्मरों एवं अन्य) की बढ़ती दिलचस्पी भारतीय कृषि में विस्तृत पैमाने के पूंजीवादी पुनरुत्पादन की ठोस अभिव्यक्ति है।

कृषि में पूंजीवाद के विकास के बावजूद भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था संकटग्रस्त है। अनाज उत्पादन के क्षेत्र में यह संकट अत्यधिक तीखा है। 50 के दशक में अनाज उत्पादन की औसत सालाना वृद्धि दर 3.22% रही जिसका मुख्य कारण अनाज उत्पादन क्षेत्रफल में वृद्धि था। 60 के दशक में अनाज उत्पादन की औसत वार्षिक

वृद्धि दर गिर कर 1.72% रह गयी और बड़े पैमाने पर देश को साम्राज्यवादियों से अनाज आयात करना पड़ा। 70 के दशक में भी वार्षिक वृद्धि दर 2.08% के निम्न स्तर पर रही। 80 के दशक में जब नयी किस्म की खेती के नतीजे आने लगे तब यह औसत वार्षिक वृद्धि दर 3.5% के स्तर तक ऊपर उठी और भारत अनाज के मामले में आत्मनिर्भर और अति सीमित निर्यातक भी हो गया। परन्तु बहुत जल्द ही 90 के दशक में औसत सालाना वृद्धि दर 1.66% के न्यूनतम स्तर पर पहुंच गयी। 90 का दशक भारत के लिये अनाज उत्पादन के मामले में पूर्णतः ठहराव का दशक रहा है — एक ऐसा दशक जब अनाज उत्पादन में वृद्धि, आबादी में वृद्धि के लगभग बराबर ही रही। भारतीय कृषि के इस सामान्य दीर्घकालिक संकट का सबसे बड़ा कारण है गैर-क्रांतिकारी तरीके से कृषि का पूंजीवादी रूपान्तरण। जमीन पर पुराने मालिकाने को लगभग जस का तस बनाये रखते हुए तकनीकी सुधारों एवं बाजार के माध्यम से किया जाने वाला विकास, कृषि उत्पादक शक्तियों की बेड़ियों को एक सीमित हद तक ही तोड़ पाया। अनाज उत्पादन के पारम्परिक क्षेत्र में यह सीमा सबसे तीखे रूप में उजागर हुई। किसी भी दशक में अनाज उत्पादन में औसत सालाना वृद्धि दर 3.5% से ऊपर नहीं उठ पायी। 90 के दशक में जैसे ही कृषि के प्रति सरकार की उपेक्षा बढ़ी वैसे ही औसत सालाना वृद्धि दर घट कर आधी रह गयी। परन्तु इन 3-4 दशकों के दौरान कृषि संकट की प्रकृति भी इतनी बदल चुकी है कि अब यदि क्रांतिकारी तरीके से भूमि का पुनःवितरण हो भी जाये तब भी वह इस संकट का समाधान पेश करने में अपर्याप्त साबित होगा। भारतीय कृषि के वर्तमान संकट के समाधान के लिये पूंजीवाद विरोधी कदम उठाना नितान्त आवश्यक हो चुका है।

इसमें भी कोई संदेह नहीं कि भारतीय देहात में सामन्तवाद के अवशेषों की मौजूदगी मेहनतकश आवाम के लिये इस संकट को और तीखा कर देती है। परन्तु आज ये कृषि संकट को तीखा करने में सहायक योगदान करते हैं न कि मुख्य। सामंती अवशेष मूलाधार और अधिरचना दोनों में मौजूद हैं। मूलाधार में इसकी प्रमुख अभिव्यक्तियां हैं परम्परागत बंटवाईदारी (जो किरायेदारी के तहत कुल क्षेत्रफल के एक तिहाई पर होती है, यानि कुल खेती में 3% से कम क्षेत्रफल पर), मजदूरी को निम्न स्तर पर बनाये रखने में जातिवादी संस्कारों की भूमिका, जजमानी प्रथा के अवशेष, बंधुआ मजदूरी, कुछ हद तक परम्परागत सूदखोरी, धार्मिक रीति-रिवाजों का पशु-पालन एवं फसलों के चयन पर प्रभाव, महिलाओं के श्रम के लिए कम मजदूरी इत्यादि। आदिवासियों द्वारा की जाने वाली झूम खेती एवं जीवन निर्वाह के अन्य परम्परागत तौर-तरीके भी मूलाधार में प्राक् पूंजीवादी अवशेष हैं। अधिरचना में प्राक्-पूंजीवादी अवशेषों की कुछ प्रमुख अभिव्यक्तियां हैं समाज में जाति व्यवस्था, पितृसत्तात्मक मूल्यों का दबदबा, खाप/चौपालों/पंचायतों की परम्परार्ये, अंधविश्वास एवं धार्मिक कर्मकाण्डों का वृहद रूप, इत्यादि। कम हो जाने एवं कमजोर पड़ने के बावजूद ये ऐसी प्राक्-पूंजीवादी हैं जो कि कृषि संकट को और विकराल बनाने में योगदान करती हैं। परन्तु मूलतः इन्हीं की बदौलत कृषि संकट नहीं है। कृषि संकट मूलतः पूंजीवादी संकट है। निस्संदेह कृषि संकट के समाधान के लिये संघर्ष इन्हें अनदेखा नहीं कर सकता परन्तु इन्हें उस संघर्ष का मुख्य निशाना बनाने से भी संकट का समाधान नहीं किया जा सकता है।

आर्थिक सुधारों के जरिये सरकार भारतीय कृषि के पूंजीवादी तंत्र को और व्यवस्थित करने एवं बढ़ाने की कोशिश कर रही है। इस दिशा में सरकार द्वारा उठाये जाने वाले प्रमुख कदमों में 'बीज अधिनियम 2001' है। इस अधिनियम का जो प्रारूप तैयार हुआ है उसमें एक राष्ट्रीय बीज बोर्ड की स्थापना के उपरांत बुवाई अथवा वृक्षारोपण हेतु इस्तेमाल होने वाले हर बीज का पंजीकरण अनिवार्य हो जायेगा। बीज उत्पादकों एवं बीज प्रोसेसिंग संयंत्रों का पंजीकरण अनिवार्य होगा। इस अधिनियम द्वारा बीजों का आयात / निर्यात संचालित किया जायेगा

और बिक्री हेतु आयात की छूट केवल पंजीकृत प्रजातियों तक सीमित होगी। यह अधिनियम कृषि में पेटेन्ट कानून को लागू करवाने और बीज बिक्री में इजारेदारी का रास्ता साफ करेगा।

संसद ने वनस्पति प्रजाति एवं किसान अधिकार बिल (Protection of Plant Varieties and Farmers Right's Legislation) पारित कर दिया है। यह बिल नयी प्रजातियों के पेटेन्टीकरण का बिल है। यह पेटेन्ट मालिकों को बीज प्रयोग करने वालों से रायल्टी सुनिश्चित करवायेगा। उक्त अधिनियम एवं बिल विश्व व्यापार संगठन (WTO) की शर्तों के तहत साम्राज्यवादी दबाव में तैयार किये गये हैं। इनसे फायदा भी मूलतः बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को ही होना है। आज यह साफ है कि दुनिया उस मुकाम पर खड़ी है जहां अब कृषि में बायोटेक्नोलोजी का व्यापक उपयोग होगा। साम्राज्यवादी कृषि तकनीक में इस नये विकास का पूरा-पूरा उपयोग अपने हित में करना चाहते हैं। 60 या 70 के दशक में भारत की स्थिति ऐसी नहीं थी कि साम्राज्यवादी वर्ण संकर बीजों के उपयोग पर टैक्स वसूल सकें। लेकिन 90 के दशक के आरम्भ से वह नयी स्थिति तैयार होनी शुरू हुई जिसमें साम्राज्यवादी इसका इंतजाम कर सकते हैं। विश्व व्यापार संगठन के बौद्धिक सम्पदा अधिकारों (IPR's) के तहत इसी रायल्टी वसूली का इंतजाम किया जा रहा है। आज की नयी परिस्थितियों में न केवल उद्योग द्वारा भारतीय कृषि का शोषण बढ़ाया जा रहा है बल्कि कृषि से पैदा होने वाले अतिरिक्त मूल्य में साम्राज्यवादी अपना हिस्सा भी बढ़ा कर मांग रहे हैं।

फरवरी 2000 में व्यय सुधार आयोग (Expenditure Reform Commission) की स्थापना हुई। इस आयोग की सिफारिशों के तहत अप्रैल 2006 तक खाद उद्योग को पूर्णतः नियंत्रण मुक्त कर दिया जायेगा। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये हर वर्ष यूरिया की कीमत में 7% वृद्धि होनी है।

इसी के समानांतर सरकारी हलकों में अब यह बात भी होने लगी है कि कृषि को उद्योग का दर्जा दिया जाये और इसमें फसल आधारित टैक्स की शुरूआत की जाये। एक तरफ कृषि में सब्सिडी समाप्ति की नीति और दूसरी तरफ कृषि उत्पादों पर उत्पाद - शुल्क के लागू हो जाने पर भारतीय कृषि वह विशिष्ट स्वरूप ग्रहण कर लेगी जिसे पूंजीपति व्यवसायीकृत खेती कहते हैं।

90 के दशक के उत्तरार्द्ध में ही सरकार ने कृषि उत्पादों के व्यापार पर पाबन्दियां हटा दी थीं। परन्तु आवश्यक वस्तु अधिनियम 1955 का इस्तेमाल करते हुए प्रांतीय सरकारें कृषि उत्पादों के बाजार को एक जिले या प्रांत तक सीमित कर देती थीं। लेकिन अब फरवरी 2002 से आड़तियों के लाइसेंस, जमा करने की सीमाओं एवं लाने-ले जाने की बंदिशों की समाप्ति के बाद गेहूं, चावल, मोटे अनाज, तेल, चीनी एवं तिलहन के लिये वास्तव में एकीकृत मुक्त राष्ट्रीय बाजार अस्तित्व में आ चुका है।

समर्थन मूल्य प्रणाली की समाप्ति करने के लिये प्रांतों द्वारा कृषि उत्पाद की विकेन्द्रीकृत खरीद प्रणाली की शुरूआत की गयी है। विकेन्द्रीकृत खरीद पर अभी कुछ प्रांतीय सरकारों का विरोध है, लेकिन इतना तय है कि समर्थन मूल्य प्रणाली के दिन अब गिने-चुने हैं। ऐसा हो जाने पर सार्वजनिक वितरण प्रणाली या तो पूरी तरह समाप्त कर दी जायेगी या अति सीमित कर दी जायेगी।

डेयरी क्षेत्र में 'मिल्क शेड अप्रोच' को समाप्त करके, डेयरी उद्योग में नियंत्रण समाप्त करके उसे प्रतियोगिता के लिये खोला जा रहा है। इस कदम के साथ ही किसी इलाके विशेष में किसी विशिष्ट डेयरी की अपने इलाके में दुग्ध उत्पादन तंत्र के विकास की जिम्मेदारी समाप्त हो जायेगी। पशुधन की गुणवत्ता का विकास,

पशु चिकित्सा, पशु आहार इत्यादि का इंतजाम अब विशिष्ट डेयरी (कोआपरेटिव अथवा निजी) की जिम्मेदारी नहीं रह जायेगी। इसका भार पशु पालने वाले किसानों को व्यक्तिगत तौर पर उठाना होगा।

उद्योग में 'विशिष्ट निर्यात क्षेत्रों' की तर्ज पर कृषि में भी 'विशिष्ट निर्यात क्षेत्रों' की स्थापना की बात देश का पूंजीपति वर्ग कर रहा है। देश में 'झींगा फार्मिंग' को बढ़ावा दे कर इस दिशा में प्रारम्भिक कदम उठाये गये थे। मत्स्य निर्यात के विकास में मिली सफलताओं ने ऐसा करने के लिये पूंजीपति वर्ग का उत्साह बढ़ाया है। इन विशिष्ट 'कृषि निर्यात क्षेत्रों' की स्थापना के लिये किसानों की भूमि का अधिग्रहण और निर्यात कम्पनियों द्वारा सघन कृषि (चाहे वह मत्स्य व पशु उत्पादों की हो या फसलों की) के लिये जरूरी व्यवस्था राजसत्ता करेगी। भूमि हदबंदी कानून को समाप्त करने और जमीन के केन्द्रीयकरण की छूट देने की बात तो जोर-शोर से उठने भी लगी है।

बीज की खरीद का नियमीकरण, बीज की नयी प्रजातियों पर रायलटी वसूली का इंतजाम, कृषि आगतों पर सब्सिडी की समाप्ति, उत्पादन शुल्क की शुरूआत, कृषि उत्पादों के व्यापार को राष्ट्रीय स्तर पर बन्धन मुक्त करना, समर्थन मूल्य प्रणाली का क्रमशः खात्मा, डेयरी उद्योग को प्रतियोगिता के लिये खोलना, कृषि निर्यात को बढ़ावा देना ऐसी नयी बातें हैं जिन्हें केन्द्र सरकार की नयी राष्ट्रीय कृषि नीति में नया माना जा सकता है। शेष बातें वही हैं जिनके द्वारा पिछले 3-4 दशकों में भारतीय कृषि का पूंजीवादीकरण किया गया है। इन्हीं नयी बातों का प्रचार करके भारत सरकार के मंत्री व पैरोकार कृषि के नये व्यवसायिक दौर की शेखी बघारते हैं।

इन नयी योजनाओं और नयी कृषि नीतियों को संज्ञान में लेना देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के लिये निहायत जरूरी है। एक ओर तो यह इस बात का संकेत है कि भारतीय कृषि का पूंजीवादी बाजार में एकीकरण पहले से कहीं उच्च स्तर पर होगा, कि यह एकीकरण न केवल भारतीय पूंजीवादी बाजार में होगा बल्कि साम्राज्यवादियों द्वारा नियंत्रित विश्व बाजार में भी होगा। विश्व बाजार में कृषि उत्पादों की मांग एवं कृषि आगतों की उपलब्धता में तेज उतार-चढ़ाव होते रहते हैं, अतः जैसे-जैसे भारतीय कृषि का एकीकरण विश्व बाजार में होता जायेगा वैसे-वैसे विश्व कृषि सामग्री बाजार के हिचकोले भारत के मेहनतकश किसानों के जीवन को तबाह करेंगे। दूसरी ओर यह इस बात का भी संकेत है कि अब सीमांत जोत के मालिकों एवं छोटे किसानों के लिये संकट और गहरायेगा। सर्वहारा के इन मित्रों की जीवन स्थितियां और बिगड़ेंगी। ऐसा इसलिये क्योंकि ये सारी नयी बातें दरअसल बड़े पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों द्वारा अपने संकट को हल्का करने की कोशिश हैं। बड़े इजारेदार पूंजीपति और साम्राज्यवादी इन कदमों के द्वारा नयी मंडियां तलाश रहे हैं, लाभदायक पूंजी निवेश के लिये नयी जगहें तलाश रहे हैं और सरकारी राजस्व का उपयोग केवल अपने ऊपर करवाना चाहते हैं। एक के बाद एक किसानों की आत्महत्याएं इस कृषि संकट के क्रमशः तीखे होते जाने की अभिव्यक्तियां हैं।

ऐसी स्थिति में यह निहायत जरूरी हो जाता है कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी छोटे किसानों एवं मझोले किसानों को यह समझायें कि क्यों समाजवाद के द्वारा ही इस संकट का कोई समाधान किया जा सकता है।

भारतीय पूंजीवाद की कुछ अन्य विशेषताएं

विस्तारवाद—भारतीय पूंजीपति वर्ग अपने घरेलू बाजार से ही संतुष्ट नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय मंचों से यह साम्राज्यवाद द्वारा थोपे जाने वाले गैर-बराबरी पूर्ण आर्थिक सम्बन्धों के विरोध में आवाज उठाता रहा है। UNCTAD जैसे निकायों में इसने G-77 जैसे संगठनों के निर्माण में सक्रिय हिस्सेदारी की है। दूसरी ओर तीसरी दुनिया के देशों के साथ यह न केवल व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने में दिलचस्पी लेता रहा है बल्कि अपनी राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर तीसरी दुनिया के मुल्कों में यह पूंजीनिवेश भी करता रहा है। सीमा पार पूंजी निवेश की परिघटना भारतीय पूंजीपतियों के इजारेदार घरानों तक सीमित रही है। परन्तु इसे नजरअंदाज करना यथार्थ से इंकार करना है क्योंकि यह भारतीय पूंजीपतियों की महत्वाकांक्षाओं व सामर्थ्य की अभिव्यक्ति है—80 के दशक के मध्य में टाटा घराने ने अपनी 12% पूंजी सीमा-पार निवेश की हुई थी, जब कि बिड़ला घराने ने 40% और थापर समूह ने 76%। 1985 में ही भूटान, बांग्लादेश, नेपाल, श्रीलंका, मालदीव व पाकिस्तान को साथ लेकर भारत ने दक्षेस (SAARC) का गठन किया। 1991 में पूरे दक्षिण एशिया को मुक्त व्यापार क्षेत्र (SAFTA) बनाने का प्रस्ताव आया। SAFTA का निर्माण भारत-पाक सम्बन्धों में विवाद के कारण खटाई में पड़ा हुआ है। वैसे भारत अभी SAARC देशों से जितना आयात करता है उससे 2½ गुना उन्हें निर्यात करता है। क्षेत्रीय स्तर पर भारतीय पूंजीपति बड़े भाई जैसा व्यवहार करता है और SAARC/SAFTA इसकी इलाकायी महत्वाकांक्षाओं की अभिव्यक्तियां हैं।

भारत के पूंजीपति वर्ग ने एक इलाकायी शक्ति की हैसियत अर्जित कर ली है। एक इलाकायी दादा की हैसियत से ही पाकिस्तान/बांग्लादेश जैसे छोटे व कमजोर पड़ोसी शासक वर्गों से इसके अन्तरविरोध बनते हैं और यह समय-समय पर उनकी बाहें मरोड़ता रहता है। नेपाल, भूटान व मालदीव से इसके प्रभुत्व के संबंध हैं। सिक्किम को तो इसने 1975 में हड़प ही लिया। साम्राज्यवादी भी एक इलाकायी शक्ति के बतौर भारतीय शासक वर्ग को स्वीकार करते हैं और दक्षिण एशिया में अपने हस्तक्षेप के दौरान इसे पक्ष बनाते हैं।

‘विकासवान’ अर्थव्यवस्था—80 के दशक में विश्व अर्थव्यवस्था 3.2% की दर से बढ़ी जबकि भारतीय अर्थव्यवस्था 5.7% की दर से विकसित हुई। 90 के दशक में विश्व अर्थव्यवस्था धीमी हुई और 2.5% की विकास दर से बढ़ी, जबकि भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर 6.0% थी। 70 के दशक के उत्तरार्ध में भारतीय अर्थव्यवस्था ने ‘हिन्दू विकास दर’ (3.5%) छोड़नी शुरू की और 90 के दशक में जब साम्राज्यवाद द्वारा नियंत्रित विश्व अर्थव्यवस्था का विकास धीमा हुआ तब भी भारतीय अर्थव्यवस्था ने अपनी तेज विकास दर बरकरार ही नहीं रखी, उसमें थोड़ी और तेजी आयी।

दूसरी ओर 5.5% से ऊंची विकास दर अपने आप में इस बात की गवाही नहीं देती कि भारतीय समाज की आर्थिक समस्याएं हल हो रही हैं और यह इसकी सामान्य प्रगति का लक्षण है। भारत की 2/5 आबादी अभी भी सरकारी गरीबी की रेखा (ग्रामीण इलाकों में 2,400 और शहरों में 2,100 कैलोरी भोजन खरीदने भर का पैसा) के नीचे जीवन यापन कर रही है। वैसे भी आर्थिक विषमता इतनी ज्यादा है कि 3/4 समाज उन लोगों का है जिनकी सामान्य न्यूनतम वेतन के बराबर भी आमदनी नहीं है। अर्थव्यवस्था के विकास में वृद्धि के बावजूद यह स्थिति लगभग जस की तस बनी हुई है। 90 के दशक के दौरान देखा यह गया कि कृषि क्षेत्र ठहराव का शिकार

रहा और उसकी विकास दर 2% के करीब रही। ऊंची विकास दर सेवा क्षेत्र की बंदौलत है। उद्योग में वृद्धि दर मोटा-मोटी पहले के दशकों की तरह है। 1996/97 के बाद औद्योगिक मन्दी भी दिखाई पड़ रही है। साफ जाहिर है कि विकास असमान एवं एकतरफा है और भारतीय अर्थव्यवस्था का सामान्य दीर्घकालिक संकट उदारीकरण वैश्वीकरण के बावजूद हल नहीं हो पा रहा है। उद्योग एवं सेवा क्षेत्र की बड़ी कम्पनियों ने जो तेज विकास किया उसे भी इनकी आंतरिक उत्पादकता में विकास का नतीजा कम और इनके द्वारा शोष अर्थव्यवस्था के दोहन का परिणाम ज्यादा माना जाना चाहिये।

एक निम्न-आय श्रेणी के देश के लिहाज से भारत में बचत दर काफी ऊंची है और परिणाम स्वरूप पूंजी निर्माण दर भी ऊंची है। 1970/71 में पूंजी निर्माण दर सकल घरेलू उत्पाद की 15.4% थी। 20 वीं सदी के अन्त में यह 24% के ऊपर थी। भारतीय अर्थव्यवस्था की 5-6% विकास दर को भी इसी आधार पर समझना उचित है। भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में योगदान करने वाली यह बचत निगमित क्षेत्र (Corporate Sector) की बंदौलत नहीं है। निगमित क्षेत्र (निजी व सार्वजनिक दोनों) की बचत और पूंजी निर्माण में अच्छा-खासा अन्तर है। अधिकांश समय बचत की तुलना में पूंजी निवेश दो गुने से अधिक रहा है। पूंजी निर्माण के लिये यह अतिरिक्त धन निगमित क्षेत्र के बाहर से उपलब्ध करवाया जा रहा है। निगमित क्षेत्र की इजारेदारियों को यह धन, देश के छोटे व टटपुंजिया उत्पादकों व नागरिकों की सामान्य बचत से उस विशाल बैंकिंग तंत्र की हजारों शाखाओं द्वारा उपलब्ध करवाया जा रहा है, जिनकी स्थापना 1969 के राष्ट्रीयकरण के बाद की गयी। निगमित क्षेत्र की इजारेदारियों के बाहर की दुनिया की बचत, जिनकी गणना भारतीय राजसत्ता घरेलू बचत (house hold savings) के तहत करती है, का राष्ट्रीय बचत में योगदान 70-80% है। समीकरण बहुत स्पष्ट हैं। अपने यहां कार्यरत सर्वहारा की श्रम शक्ति की लूट के साथ-साथ घरेलू बचत की दम पर परोपजीवी निगमित क्षेत्र का विकास हो रहा है। निगमित क्षेत्र की परोपजीविता के साथ-साथ यह परिघटना भारत में पूंजीवादी बाजार तंत्र के विकास की भी अभिव्यक्ति है। डाकखानों द्वारा बचत के अलावा आज भारत के शहरों, कस्बों, देहात में 200 से अधिक वाणिज्यिक बैंकों और 120 से अधिक ग्रामीण बैंकों की 80,000 से अधिक शाखाएं अस्तित्व में आ चुकी हैं। किसी भी लिहाज से भारतीय अर्थव्यवस्था अर्ध-सामन्ती ठहराव की शिकार नहीं है। यह ठहराव विकृत पूंजीवाद का परिणाम है।

पतनशील पूंजीवाद—अर्ध-सामन्ती ठहराव की थीसिस का निषेध करने के साथ-साथ भारतीय अर्थव्यवस्था साम्राज्यवाद के युग की बीमारियों से पीड़ित पूंजीवाद के तमाम लक्षणों को भी अभिव्यक्त करती है। निगमित क्षेत्र की ऊपर दर्ज परोपजीविता के अलावा यह भी देखने में आ रहा है कि निगमित क्षेत्र विज्ञान-तकनीक के विकास के प्रति उदासीन है। हाल के अध्ययनों ने यह दिखाया है कि निगमित क्षेत्र द्वारा अनुसंधान एवं विकास खर्च (R & D expenditure) इस क्षेत्र की बिक्री (sales) के अनुपात में घट रहा है। आर्थिक संधारों के चरण में सामान्य तौर पर भी भारतीय पूंजीपति वर्ग ने देश में वैज्ञानिक शोध व अनुसंधान के विकास को प्रोत्साहित करने के बजाय विदेशों से तकनीक आयात करने की नीति लागू की है। इसके चलते भारतीय पूंजीपति वर्ग की साम्राज्यवाद पर निर्भरता बढ़ी है। इस नीतिगत परिवर्तन का नकारात्मक प्रभाव देश के वैज्ञानिक/तकनीशियन विरादरी के मनोबल पर पड़ा है और वैज्ञानिक तकनीकी संस्थाएं धन व संसाधनों के अभाव में काम कर रही हैं।

औद्योगिक रोगग्रस्तता भारतीय पूंजीवाद की पतनशीलता की एक अन्य अभिव्यक्ति है। देश की करीब 33-34 लाख औद्योगिक इकाइयों में से इस समय 2.5 लाख से अधिक इकाइयां (7.5%) औद्योगिक रोगग्रस्तता की शिकार हैं। इतनी अत्यधिक ऊंची दर दरअसल नियंत्रणवादी मॉडल की विशेषता है, जिसके तहत ढेरों पाबन्दियों द्वारा पूंजीपति के किसी औद्योगिक प्रतिष्ठान को सीधे-सीधे बन्द करने पर रोक थी। मुक्त बाजार पूंजीवाद के तहत जैसे ही श्रम कानूनों को सर्वहारा के और ज्यादा प्रतिकूल बदल डाला जाता है और योजनाबद्ध पूंजीवादी विकास के दर्शन की समाप्ति के तहत उद्योग बन्द करने पर पाबन्दियां हटा दी जाती हैं वैसे ही यह दर गुणात्मक अर्थों में घट जायेगी—रोग ग्रस्त घोषित होने के बजाय इकाइयां सीधे-सीधे बन्द कर दी जायेंगी, जैसा कि पूंजीवाद में सामान्यतः होता है। परन्तु तब भी बड़ी तादाद में इकाइयों का बन्द होना अथवा रोग ग्रस्त होना भारतीय पूंजीवाद की आम समस्याओं व उसके अराजक चरित्र की ही अभिव्यक्तियां हैं। यह अंशतः साम्राज्यवाद के भारतीय अर्थव्यवस्था पर बढ़ते प्रभाव का परिणाम भी है।

असंतुलित-असमान विकास—पूंजीवादी विकास अपनी सामान्य गति में असमानताओं को जन्म देता ही है। स्वस्थ से स्वस्थ पूंजीवाद में भी ऐसा होता है कि उद्योग की अपेक्षा कृषि पिछड़ती जाती है या उद्योग के कुछ क्षेत्रों का विकास दूसरे क्षेत्रों की तुलना में बहुत ज्यादा हो जाता है इत्यादि। परन्तु भारतीय पूंजीवाद के विकास में ये असमानताएं बहुत ज्यादा हैं। ये देश के क्षेत्रीय विकास में भी दिखाई देती हैं और अर्थव्यवस्था के समग्र ढांचे में भी। एक ओर भारत में गुजरात-पंजाब जैसे विकसित प्रांत हैं तो दूसरी ओर उड़ीसा-बिहार जैसे पिछड़े क्षेत्र। एक असमानता यह है कि झारखंड या छत्तीसगढ़ जैसे प्रदेश, जिनका देश के औद्योगिक उत्पादन में अच्छा खासा योगदान है, की आबादी की क्रय शक्ति बहुत कम है।

जो राष्ट्रीय बाजार अस्तित्व में आया है उसमें भी विषमता अत्यधिक है। एक ओर ऐसे उपभोक्ता हैं जो शाम होते-होते हजारों रुपये खर्च कर डालते हैं और दूसरी ओर करोड़ों ऐसे लोग हैं जो शादी-ब्याह या रिश्तेदारी में जाने के लिये रबड़ की चप्पलें खरीदने के पहले भी चार बार सोचते हैं।

यहां जो पढ़े-लिखे एवं प्रशिक्षित नौजवान तैयार हो रहे हैं उन्हें अर्थव्यवस्था ठीक से खपा पाने में असमर्थ है। नतीजा यह कि देश के 'बौद्धिक संसाधनों' का भारी पलायन साम्राज्यवादी मुल्कों की ओर हो रहा है, जहां इनमें से कई ऐसी तकनीक के विकास में योगदान करते हैं जिसे पुनः भारत उंचे दामों पर खरीदता है। तकनीक के मामले में विषमता इतनी है कि एक ओर तो आधी से ज्यादा आबादी को साफ पेय जल उपलब्ध नहीं है दूसरी ओर, आयोनाइज्ड वाटर का प्रबन्ध है। एक तरफ लकड़ी के पहिये वाली बैलगाड़ियों में लोग सफर करते हैं ता दूसरी ओर अत्याधुनिक जम्बों विमानों में।

मुद्रास्फीति—आधी शताब्दी से अधिक समय तक अधिकांश वर्षों में मुद्रास्फीति को 10% के नीचे रख लेने के लिये भारतीय पूंजीपति वर्ग अपनी पीठ थपथपाता है। उसकी नजर में ऐसा करके उसने इंकलाब की वस्तुगत परिस्थितियों को विकसित होने से सफलतापूर्वक रोका है—1966/67 एवं 1973/75 के वर्षों में जब मुद्रास्फीति नियंत्रण के बाहर होने लगी थी, तब जनता के आन्दोलनों के भयावह दृश्य ने उसके माथे के पसीने छुड़ा दिये थे। अपनी प्रबन्धन क्षमताओं के पूंजीपति वर्ग के मुगालतों से अलग हट कर भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रकृति को देखने पर इसे नियंत्रित मुद्रास्फीति अर्थव्यवस्था के बतौर चिन्हित करना ठीक है। परन्तु नियंत्रित मुद्रास्फीति की स्थिति

आने वाले वर्षों में भी बरकरार रहेगी, यह बात दावे से नहीं कही जा सकती। पुराने नियंत्रण तंत्र को समाप्त करने और मुक्त बाजार तंत्र की स्थापना के साथ-साथ पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में अंतर्निहित अराजकता का तत्व बढ़ रहा है और तेज मुद्रास्फीति के झटके कभी भी महसूस किये जा सकते हैं।

नियंत्रित मुद्रास्फीति की सामान्य प्रवृत्ति के भीतर विभिन्न वस्तुओं की कीमतों में उतार-चढ़ाव अच्छा-खासा होता रहता है। खाद्य सामग्री एवं मेहनतकश आवाम के उपभोग की अन्य वस्तुओं के दाम में तेज मुद्रास्फीति के झटके, जो कि मेहनतकश जन के जीवन को बुरी तरह से अस्त-व्यस्त कर देते हैं, समग्र मुद्रास्फीति की टोकरी में अक्सर खल-बली मचाते रहते हैं। ऐसे में नियंत्रित मुद्रास्फीति की सामान्य स्थिति के बावजूद, बाजार अर्थव्यवस्था के अधीन होने के चलते मेहनतकश आवाम का जीवन अनिश्चितता, अस्थिरता व जलालत से भरा रहता है। अभाव के हालातों में 10% मुद्रास्फीति भी कमर तोड़ होती है।

संकटग्रस्त पूंजीवाद—अर्थव्यवस्था के ग्राफ में क्रमिक बढ़ोत्तरी के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था एक संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था है। यह संकट कहीं से भी अर्ध-सामंती ठहराव का संकट नहीं है। इस संकट की प्रकृति पूंजीवादी है। एक तरफ तो पूंजीवाद भारतीय जन-जीवन की मुख्यधारा बन चुका है और वह भारत के लोगों व उनके बीच के अंतरसम्बन्धों को एक के बाद एक अपने अधीन करता जा रहा है। दूसरी ओर यह पुराने अर्ध-सामंती समाज की जलालत, भुखमरी व पस्ती की जगह एक नवजात पूंजीवाद की स्फूर्ति के साथ जीवन को आगे नहीं बढ़ा रहा है।

सर्वहारा की रिजर्व सेना का निर्माण पूंजीवाद की अंतर्निहित गति है। रिजर्व सेना के बिना पूंजीपति वर्ग न तो सर्वहारा को नियंत्रित कर सकता है और न ही अपने मुनाफे के उच्च स्तर को बनाये रख सकता है। इसलिये अपनी फ़ैक्ट्री या फार्म पर सर्वहारा से काम करवाने के अलावा पूंजीपति वर्ग बेरोजगारों का एक जमावड़ा अपने दरवाजे पर बनाये रखता है। भारतीय पूंजीवाद का संकट यह है कि गांव व शहर के इन बेरोजगारों/अर्ध-बेरोजगारों की भीड़ आवश्यकता से बहुत बड़ी है। भारतीय पूंजीवाद ने पुराने समाज के ताने-बाने को क्षत-विक्षत तो कर दिया, परन्तु उसमें इतनी ऊर्जा व आवेग नहीं था कि वह इस देश की विशाल आबादी को उत्पादन की नयी प्रणाली के तहत समेट सके। यदि भारत में पूंजीवाद ने क्रांति करके सत्ता हथियाई होती तो हालत इतनी जर्जर नहीं होती। परन्तु सुधारों के जरिये भारत में आने वाले पूंजीवाद में उस ऊर्जा और आवेग का अभाव रहा है जो कि भारत के लोगों को नया जीवन दे सके। अपने जन्म से लेकर आज तक भारतीय पूंजीवाद रोगग्रस्त ही रहा है और भारतीय समाज का एक बड़ा हिस्सा किसी भी प्रकार की उत्पादक गतिविधियों में हिस्सेदारी नहीं कर पाता है। इतने बड़े पैमाने पर व्याप्त बेरोजगारी भारतीय पूंजीवाद के सामान्य संकट की तीखी अभिव्यक्ति है, न कि प्राक्-पूंजीवादी सम्बन्धों की (बेरोजगारी अपने आप में एक पूंजीवादी परिघटना है)।

मजदूर वर्ग के आंदोलनों को कमजोर होते देख, पूरी दुनिया के पूंजीपति मजदूरों को कम मजदूरी देकर और उनसे ज्यादा काम लेकर अपने बेशी मूल्य को बढ़ाने की कोशिश कर रहे हैं। अपने साम्राज्यवादी बड़े भाइयों की तरह भारतीय पूंजीपति भी अर्थव्यवस्था के संकट को मजदूर वर्ग के कंधों पर डाल रहे हैं। उत्पादन लागत में वेतन के हिस्से को घटाने के कई नुस्खे आजमाये जा रहे हैं जिससे अतिरिक्त मूल्य बढ़ सके—उत्पादन बढ़ाने पर मजदूरों की संख्या न बढ़ना (Productivity enhancement), सीधे-सीधे छंटनी करके मजदूरों की संख्या कम करना (downsizing), स्थायी वेतन भोगी मजदूरों के स्थान पर ठेका प्रथा के तहत मजदूर रखना (casualization) इत्यादि।

ऐसी नीतियों के क्रियान्वयन को आसान एवं व्यवहारिक बनाने के लिये श्रम कानूनों को भी बदला जा रहा है। इन नीतियों के चलते पहले से ही बड़े पैमाने पर मौजूद बेरोजगारी और विकराल हो रही है।

राजनीतिक-अर्थशास्त्र की सामान्य प्रस्थापनाओं के अनुसार श्रमिक को न्यूनतम इतना वेतन मिलना चाहिये कि वह अपनी श्रम शक्ति का पुनः उत्पादन कर सके, यानि कि किसी समाज में जीवन के सामान्य भौतिक व सांस्कृतिक स्तर के अनुरूप वह अपना एवं अपने परिवार का पालन-पोषण कर सके। सामान्य व्यवहार में यही होता भी है। इसी प्रस्थापना के आधार पर भारतीय बुर्जुआ की राजसत्ता न्यूनतम मजदूरी दरें निर्धारित करती है। परन्तु भारत के संगठित क्षेत्र के औद्योगिक सर्वहारा के एक हिस्से मात्र को ही न्यूनतम वेतन या उससे अधिक मिलता है। संगठित क्षेत्र के शेष सर्वहारा, असंगठित क्षेत्र के सर्वहारा, ग्रामीण सर्वहारा न्यूनतम वेतन दरों से कम पर काम करता है। एंगेल्स ने 'इंग्लैंड में मजदूर वर्ग की दशा' (The Conditions of the Working Class in England) में वेतन गिरावट (wage depression) की जिस परिघटना का जीवंत वर्णन उस दौर के पूंजीवाद के लिये किया है, वह भारतीय पूंजीवाद की सामान्य हालत है, इसके उद्भव से लेकर आज तक बरकरार है। वेतन गिरावट की उक्त अवस्था भारतीय पूंजीपति वर्ग के तात्कालिक मुनाफों का एक बड़ा स्रोत है लेकिन यह उपभोक्ता बाजार को नकारात्मक ढंग से प्रभावित करती है।

भूमि क्रांति के अभाव में सुधार के जरिये रिस-रिस कर जो पूंजीवाद कृषि में स्थापित हुआ है, उससे एक विस्तृत बाजार तो अस्तित्व में आ चुका है लेकिन यह बाजार एक बेजान बाजार है। इसके करोड़ों उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति अति-सीमित है और मात्र 15-20 करोड़ लोग ही वैसे उपभोक्ता हैं जैसे उपभोक्ताओं का बाजार भारतीय पूंजीपति वर्ग दरअसल चाहते हैं। निम्न क्रय शक्ति वाले इस बाजार को सुधार कर भारतीय अर्थव्यवस्था का संकट हल करने का कोई भी रास्ता भारतीय पूंजीपति वर्ग के पास नहीं है। उल्टे इसके इजारेदाराना चरित्र एवं साम्राज्यवाद की बढ़ती घुस-पैठ के चलते जो असंतुलित (lopsided) विकास हो रहा है वह भारतीय पूंजीवाद के संकट को और विकराल बनाता है और सर्वहारा व उसके मित्र वर्गों की जीवन स्थितियों को और कष्टप्रद बनाता है।

भारतीय पूंजीवाद का संकट चिर स्थायी है। यह इसके जन्म से ही मौजूद है। बल्कि भारतीय पूंजीवाद का जन्म ही अर्ध-सामन्तवाद के संकट के दौरान हुआ। परन्तु इसके जन्म से वह संकट हल नहीं हुआ। उसका चरित्र बदला परन्तु वह विद्यमान रहा। अर्थव्यवस्था की विकास दर 80 के दशक तक 3.5% की लक्ष्मण रेखा को ही नहीं पार कर पायी। 80 व 90 के दशक में जब विकास दर ने यह लक्ष्मण रेखा पार की तब भी खेती या उद्योग के विकास में गुणात्माक छलांग की बंदौलत नहीं बल्कि सेवा क्षेत्र के फैलने की बंदौलत। नये 'मुक्त बाजार पूंजीवाद' का मॉडल भी इसका कहीं कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर पा रहा है।

भारतीय पूंजीवाद के इस सामान्य दीर्घकालिक संकट के भीतर समय-समय पर अल्पकालिक संकट अक्सर उपस्थित होते रहते हैं। 1990/91 के वित्तीय संकट की तरह कई तीखे अल्पकालिक वित्तीय संकट या मांग-आपूर्ति के संकट भारतीय अर्थव्यवस्था में पैदा होते रहते हैं। पिछली आधी-शताब्दी में शायद ही कोई 5 वर्षों की भी अवधि हो जिसमें भारतीय अर्थव्यवस्था को किसी तीखे अल्पकालिक संकट का सामना न करना पड़ा हो। सामान्य दीर्घकालिक संकट के भीतर अल्पकालिक संकटों का यह तांडव भारतीय मेहनतकशों के जीवन को अत्यंत पीड़ादायी व नारकीय बनाता है।

विगत एक दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था का साम्राज्यवाद से जो एकीकरण हुआ है उसने इसकी अस्थिरता (volatility) को बहुत ज्यादा बढ़ा दिया है। ऊपरी तौर पर आज अर्थव्यवस्था जितनी स्थिर दिख रही है वह इसलिये की भारत सरकार ने इस पर एक हद तक वित्तीय नियंत्रण अभी बनाये रखा है। यदि इस नियंत्रण को ढीला कर दिया जाये तो जितना एकीकरण हो चुका है उसकी बदौलत यहां भी मैक्सिको या इंडोनेशिया जैसे हालात पैदा हो सकते हैं। कुल मिलाकर साम्राज्यवाद भारतीय अर्थव्यवस्था के चिरस्थायी संकट को हल करने के बजाय उसके लिये नये किस्म के खतरे पैदा कर रहा है।

III. अधिरचना

मूलाधार और अधिरचना के बीच के अन्तरविरोध में सामान्यतः अधिरचना भारतीय समाज के मूलाधार के पूंजीवादी रूपान्तरण के अनुरूप अपने को ढालती रही है और आज भी ऐसा ही हो रहा है। आज मूलाधार के परिवर्तन एवं मूलाधार का विकास अधिरचना के परिवर्तनों को निर्धारित कर रहे हैं। आज भारतीय समाज के मूलाधार का पूंजीवादी विकास हो रहा है और उसमें भी एक खास किस्म के पूंजीवाद 'मुक्त बाजार पूंजीवाद' का विकास हो रहा है। आज अधिरचना के राजकीय एवं राज्येतर, दोनों पक्षों का रूपान्तरण भी इसी दिशा में हो रहा है। अधिरचना का राजकीय पक्ष मूलाधार से ज्यादा समरूप है, जबकि इसका राज्येतर पक्ष अपेक्षाकृत ज्यादा बेमेल है। परन्तु दोनों पक्षों की अन्तरवस्तु मूलतः पूंजीवादी है। अधिरचना के राजकीय पक्ष का रूप अपनी अन्तरवस्तु के ज्यादा करीब है जबकि अधिरचना के अनेक राज्येतर पक्षों का रूप प्राक्-पूंजीवादी है। ऐसी असंगतियां विकसित से विकसित पूंजीवादी समाजों में भी पायी जाती हैं। जापान एवं स्पेन इसके प्रातिनिधिक उदाहरण हैं जो कि आज भी औपचारिक (संवैधानिक) तौर पर राजतंत्र हैं और जिनके सामाजिक रीति-रिवाज एवं मूल्यों में ढेर सारे प्राक् पूंजीवादी रूप विद्यमान हैं।

राजनीति

मूलाधार एवं अधिरचना के बीच का रिश्ता एकतरफा व एकांगी नहीं होता और यह अनिवार्य नहीं है कि हमेशा ही अधिरचना मूलाधार के पीछे-पीछे चले। भारत में भी ऐसा नहीं हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का दशक भारतीय इतिहास का ऐसा काल है जब राजनीति का विकास, अर्थव्यवस्था के विकास की गति व दिशा का निर्धारण कर रहा था। ऐसे विशेष काल में और सामान्यतः भी अधिरचना मूलाधार को प्रभावित करती है और इस प्रभाव को अनदेखा करना गैर-द्वन्दवादी होता है।

हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन में अनेक साथियों का मानना है कि पूंजीवादी मूलाधार के लिये जनवादी राजसत्ता अनिवार्य है और यदि राजसत्ता पूर्णतः जनवादी नहीं है तो मूलाधार में पूंजीवाद मुख्य उत्पादन प्रणाली के बतौर कायम नहीं हो सकता। यह अवधारणा गलत है। अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का उद्भव एवं एक हद तक विकास प्राक् पूंजीवादी राजसत्ता के अधीन ही होता है। पूंजीवाद के आगे के

विकास के लिये राजनीति में जो चीज अनिवार्य है वह पूंजीपति वर्ग की तानाशाही है न कि जनवाद। यदि पूंजीपति वर्ग की तानाशाही का रूप संसदीय जनवाद हो तो सामान्यतः यह पूंजीवाद के विकास के लिये श्रेष्ठ स्थिति है, लेकिन किसी विशेष स्थिति में पूंजीवाद को अपने बचाव अथवा विस्तार के लिये नंगी तानाशाही का रूप अख्तियार करना आवश्यक हो उठता है। भारत में 1950 के बाद के काल में जिस राजसत्ता ने ब्रिटिश कालीन औपनिवेशिक राजसत्ता की विरासत को आगे बढ़ाया वह भारतीय पूंजीपति वर्ग की तानाशाही थी जिसका रूप अंशतः जनवादी था। जून 1975 से मार्च 1977 के बीच यह पूंजीपति वर्ग के हित में इंदिरा गांधी शासन की नंगी तानाशाही थी। तब से लेकर अब तक यह अंशतः जनवाद है और इसका यह रूप समाज में पूंजीपति वर्ग की तानाशाही को छिपाने का काम करता है।

पिछले डेढ़ दशक में भारतीय राजनीति मुख्यतः पूंजीपति वर्ग की गतिविधियों द्वारा ही निर्धारित होती रही है। सर्वहारा एवं अन्य उत्पीड़ित वर्गों/तबकों के संघर्ष इस दौरान जारी रहे और इनका एक हद तक का विकास भी हुआ, परन्तु ये भारतीय राजनीति के स्वरूप पर कोई उल्लेखनीय छाप नहीं छोड़ पाये। भारतीय पूंजीवाद के संकट की राजनीतिक अभिव्यक्ति इस काल में दो महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों के बतौर सामने आयी। एक, भारतीय चुनावबाज राजनीति में कांग्रेस पार्टी की केन्द्रीय हैसियत की समाप्ति और गठबन्धन राजनीति का स्थायित्व ग्रहण करना। दूसरा, संसद तथा विशेष तौर पर सरकार का पूंजीपति वर्ग की प्रबन्ध कमेटी के बतौर सीधे-सीधे सामने आना।

पहली प्रवृत्ति भारतीय पूंजीवाद के सामान्य संकट की अभिव्यक्ति है। देश का जितना भी पूंजीवादी विकास हो रहा है उससे जनसाधारण के जीवन की कोई भी मूल — भूत समस्या हल नहीं हो रही है। ऐसे में लोगों को किसी भी बुर्जुआ राजनीतिक पार्टी के कार्यक्रम से कोई उम्मीद नहीं बची है। राजनीतिज्ञों एवं चुनावबाज पार्टियों को लोग सामान्यतः भ्रष्ट व अनैतिक मानने लगे हैं। नाउम्मीदी व अविश्वास की स्थिति में जनमत बुरी तरह से बंटा हुआ है। इसके बावजूद यदि 50% से अधिक मतदान हो रहा है तो यह भारत के लोगों के जनवादी मूल्यों एवं आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है, न कि बुर्जुआ पार्टियों से उम्मीद की। यह अंशतः चुनावी भ्रष्टाचार की भी अभिव्यक्ति है। स्थिति ऐसी हो चुकी है कि कोई भी पार्टी स्पष्ट बहुमत हासिल नहीं कर पा रही है। कांग्रेस की केन्द्रीय हैसियत की समाप्ति एवं किसी अन्य पार्टी की उसके स्थान को भर पाने की असफलता इसी स्थिति की अभिव्यक्ति है। ऐसे में चुनावबाज दलों ने जाति/धर्म आधारित संकीर्ण राजनीति को खुलेआम अपनी चुनाव नीति बनाना शुरू किया है। विभाजित जनमत की अवस्था में सरकारों के गठन के लिये चरम मौकापरस्ती एवं सांसदों/विधायकों की खरीद-फरोख्त, दल-बदली इत्यादि से बुर्जुआ राजनीतिक संस्थाओं की सामाजिक साख काफी गिरी है। समाज में फैलते भ्रष्टाचार एवं राजनीति के बढ़ते अपराधीकरण के कारण मेहनतकश आवाम स्वतः ही यह सारसंकलन करने लगा है कि चुनावों एवं संसद में उनके वर्ग के लिये कुछ नहीं है। दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि इस स्वतः स्फूर्त सार संकलन को क्रांतिकारी निष्कर्षों तक पहुंचाने के लिये एक राजनैतिक पार्टी के बतौर भारतीय सर्वहारा राष्ट्रीय स्तर पर संगठित नहीं है। सामाजिक संकट की इस स्थिति में रास्ता दिखाने वाली सर्वहारा राजनीति का अभाव है। ऐसे में, नौजवान पीढ़ी का एक हिस्सा आतंकवाद में अपनी समस्याओं का समाधान खोज रही है।

दूसरी प्रवृत्ति का लेना-देना आर्थिक सुधार कार्यक्रम से अधिक है। 'पूरे देश की संसद', 'मतदाताओं की नुमाईदा सरकार', 'सरकार की सेवा में नौकरशाही', 'सत्यमेव जयते' के सिद्धांत पर आधारित निष्पक्ष न्यायपालिका, ढांचागत समायोजन की जरूरतों ने इस पूरे के पूरे स्वांग का पर्दाफाश कर दिया। 90 के दशक में भारतीय संसद

व सरकार के काम काज की धुरी आर्थिक सुधारों के इर्द-गिर्द घूमती रही। निजी पूंजीपतियों और उसमें भी इजारेदार पूंजीपतियों के प्रति सरकार व संसद की पक्षधरता बहुत साफ तौर पर खुल कर सामने आयी। एनरान, बाल्को मामलों में अलोकप्रिय फैसलों ने सर्वोच्च न्यायालय को पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि के बतौर बेनकाब किया। आतंकवाद निरोधक अधिनियम (POTA) जैसे काले-कानूनों के क्रियान्वयन के साथ-साथ श्रम कानूनों में परिवर्तन के बाद भारतीय राजसत्ता का पुराना मुखौटा 'सारे देश की राजसत्ता' पूरी तरह से उतर चुका होगा और बुर्जुआ तानाशाही काफी नंगी हो चुकी होगी। शेष समाज में अपनी राजसत्ता की उपयोगिता एवं औचित्य की प्रासंगिकता बनाए रखने के लिये भारतीय पूंजीपति वर्ग के राजनैतिक शस्त्रागार में हथियार समाप्त प्रतीत हो रहे हैं। यह परिवर्तन क्रांति के लिये सहायक है। कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को अपने प्रचार एवं सांगठनिक कार्यवाहियों के दौरान शासक वर्ग की इस नवोद्घाटित होती कमजोरी का पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिये। बुर्जुआ तानाशाही के इस नंगे रूप में राज्य द्वारा जनता का उत्पीड़न तेजी से बढ़ा है। जैसे-जैसे राज्य ने अपना कल्याणकारी रूप त्यागा है वैसे-वैसे उसने जनता के असंतोष से निपटने के लिए अपना दमन तंत्र मजबूत किया है। ऐसे में भारत में मौजूद सीमित जनवाद और ज्यादा सीमित होता जा रहा है।

बुर्जुआ तानाशाही के जनवादी मुखौटे के उतरने की एक अन्य अभिव्यक्ति भारतीय संसदीय राजनीति में हिन्दू फासीवादियों का बढ़ता प्रभाव है। संसदीय राजनीति के हाशिये पर पड़ी रहने वाली जनसंघ आज केन्द्र की गठबंधन सरकार का नेतृत्व कर रही है और नेहरू काल की अंशतः धर्म निरपेक्ष राजसत्ता को भगवा रंग में रंगने की कोशिश कर रही है। सामान्यतः भारतीय पूंजीपति वर्ग को अपने बेशी मूल्य एवं पूंजी की वृद्धि से मतलब है और 'धर्म-निरपेक्ष' राजनीति ही इसके लिये आम तौर पर बेहतर स्थिति है। परन्तु चौतरफा संकट का समाधान न खोज पाने की स्थिति में उसने संघ परिवार की भगवा राजनीति के लिये जगह बनायी है। एक तरफ तो इससे उसे मेहनतकश आवाम की एकता तोड़ने में मदद मिलती है और दूसरी तरफ वह मुस्लिम आतंकवाद से निपटने के बहाने अनेक काले कानून एवं तानाशाही पूर्ण कदम उठा सकता है। बुर्जुआ वर्ग अच्छी तरह जानता है कि अपनी व्यवस्था के संचालन के लिये धर्म निरपेक्ष राजनीति की जगह हिन्दू साम्प्रदायिक राजनीति का इस्तेमाल इस बात की स्वीकारोक्ति है कि उसके विकल्प सिकुड़ते जा रहे हैं।

क्रांति की वस्तुगत स्थितियों को तैयार करने में सहायक इन दोनों प्रवृत्तियों के विकास के बावजूद यह मान लेना कि भारतीय राजनीति की वर्तमान स्थिति एक क्रांतिकारी संकट की स्थिति है, कि क्रांति की परिस्थितियां तैयार हैं और केवल आत्मगत शक्तियों की संगठित पहल का अभाव है, कहीं से भी सही विश्लेषण नहीं है। भारतीय राजनीति की वर्तमान स्थिति क्रांतिकारी संकट की स्थिति नहीं है। अभी न तो शासक वर्ग पुराने तरीके से समाज व्यवस्था को चला पाने में असफल है न ही उत्पीड़ित जनता बगावत की मानसिकता में है। अभी भारतीय राजसत्ता कहीं से भी विघटन के कगार पर नहीं है, वह पर्याप्त मात्रा में सुदृढ़ व स्थायी है। उसे ढहाने के लिये अभी भारत के क्रांतिकारियों को काफी लम्बा सफर तय करना है, बहुत मेहनत व बहुत कुर्बानियों के बाद ही हम उस शुभ दिन को देख पायेंगे। अपनी कमर कसकर हमें इस लम्बे संघर्षपूर्ण सफर के लिये तैयार होने की जरूरत है। वस्तुगत परिस्थितियों की परिपक्वता को बढ़ा-चढ़ा कर देखने की प्रवृत्ति झूठा आशावाद पैदा करती है, कालांतर में निराशा व सिद्धान्तहीनता/मौकापरस्ती को जन्म देती है और क्रांतिकारी शक्तियों के बोल्शेविकीकरण में बाधक है।

भारतीय शासक वर्ग अपनी सैन्य क्षमता का निरंतर विकास करता जा रहा है। हालांकि विश्वव्यापी प्रभुत्व की होड़ में लगी साम्राज्यवादी शक्तियों के सैन्यीकरण की तुलना में इसकी सैन्य क्षमता कहीं नहीं ठहरती, फिर भी क्षेत्रीय सैन्य शक्ति के बतौर यह दक्षिण एशिया की एक महत्वपूर्ण शक्ति बना हुआ है और यह पास-पड़ोस के देशों के साथ प्रभुत्वकारी रिश्ते कायम करने की भरपूर कोशिश करता रहता है। रक्षा बजट में लगातार बेतहाशा वृद्धि, आधुनिक हथियारों के लिए विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के साथ सौदेबाजी, तरह-तरह के अर्द्ध-सैनिक बलों के विस्तार और सर्वोपरि 1998 में आणविक विस्फोट के बाद से आणविक शक्ति सम्पन्न देशों के क्लब में शामिल होने की इसकी महत्वाकांक्षा बढ़ते सैन्यीकरण की दिशा में इसके कुछ महत्वपूर्ण कदम हैं। साम्राज्यवादी, विशेष तौर पर अमरीकी साम्राज्यवादी, शीत युद्ध के बाद की परिस्थिति में भारतीय शासक वर्ग की आर्थिक व सामरिक शक्ति को देखकर इसे एक क्षेत्रीय सामरिक शक्ति के बतौर स्वीकार करते हैं। विगत दिनों में साझे सैनिक अभ्यास इस दिशा में एक कदम है।

इस काल में भारतीय शासक वर्ग की राजनीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन उसकी विदेश नीति में हुआ है। किसी देश की विदेश नीति उसकी घरेलू नीति का ही विस्तार होती है। 1989/91 आते-आते अन्तर साम्राज्यवादी अन्तरविरोध के एक ध्रुव सोवियत खेमे के विघटन के बाद भारतीय शासक वर्ग के लिये यह साफ हो गया था कि अन्तर साम्राज्यवादी कलह की समाप्ति के चलते तीसरी दुनिया के शासक वर्गों के लिये सौदेबाजी की गुंजाइश बहुत सीमित हो चुकी है। ऐसे में अन्तः साम्राज्यवादी कलह पर आधारित उसकी पुरानी विदेश नीति (गुटनिरपेक्षता, इत्यादि) अप्रासंगिक हो चुकी थी। यह स्पष्ट था कि नई स्थिति में अपनी संकटग्रस्त पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के लिये उसे अपना औपचारिक एवं सीमित साम्राज्यवाद-विरोध (विशेषकर अमेरिका विरोध) ठंडे बस्ते में, कम से कम तब तक तो रखना ही पड़ेगा जब तक अन्तः साम्राज्यवादी रिश्तों में पुनः तीखी कलह नहीं पैदा हो जाती। भारतीय शासक वर्ग ने विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के नेता की हैसियत वाले अमेरिका को सलाम किया। अमेरिका ने तुरन्त छोटे भाई से हाथ मिलाया और उसकी पीठ थपथपायी। चीन एवं इस्लामिक राष्ट्रवाद के खिलाफ उसे इज्राइल की तरह का एक और विश्वसनीय सहयोगी चाहिये। कालांतर में भारत इज्राइल में कूटनीतिक सम्बन्ध भी स्थापित हुए, गुप्तचर सहयोग एवं हथियारों की खरीद बिक्री तक यह नयी मित्रता विकसित हुई। प्रकारांतर से भारतीय पूंजीपति वर्ग ने फिलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष के समर्थन से अपने हाथ पीछे खींचे।

भारतीय समाज में अच्छी-खासी मात्रा में साम्राज्यवाद विरोधी चेतना रही है। इस का निर्माण आजादी की लड़ाई के दिनों में हुआ था और 80 के दशक के मध्य तक चूंकि यह भारतीय पूंजीपति वर्ग के स्वार्थों के लिये उपयोगी थी अतः इसे कुन्द करने के लिये वह कोई अभियान नहीं चलाता था। परन्तु 80 के दशक के मध्य से और विशेष तौर पर 90 के दशक में भारतीय पूंजीपति वर्ग के बुद्धिजीवियों, उसके मीडिया, उसके राजनीतिज्ञों, ने योजनाबद्ध ढंग से साम्राज्यवाद और खासकर अमरीकी-ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भारतीय समाज में स्वीकार्यता बढ़ाने के लिये कार्य किया है। अमरीकी समाज के बुर्जुआ मूल्यों एवं पारिवारिक जीवन को आदर्श जीवन शैली के बतौर पेश करने की सघन कोशिश की गयी है, बल्कि वे स्वतः ही इसके लिये आगे आये हैं। इसमें इंग्लैंड एवं उत्तरी अमेरिका के प्रवासी भारतीयों की भी मदद ली गयी है। आधी शताब्दी पहले वन्देमातरम् के नारे लगवाने वाला और 80 के दशक तक सोवियत खेमे एवं विकासशील देशों का अमरीका विरोधी मित्र माने जाने वाला भारतीय पूंजीपति वर्ग आज भारत में अमरीकी साम्राज्यवाद के लिये जगह बना रहा है। आज भारत में साम्राज्यवाद का सामाजिक अवलम्ब कोठियों- हवेलियों में रहने वाले सामन्त नहीं, बल्कि पूंजीपति वर्ग हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका

की सेना के साथ साझे अभ्यास या दिल्ली में एफ.बी.आई. का दफ्तर खोला जाना ऐसी बातें नहीं हैं जो भारतीयों की 70 के दशक की साम्राज्यवाद विरोधी चेतना को स्वीकार्य होतीं। भारतीय जन के बीच भारत में ही अमेरिकी सेना एवं पुलिस अधिकारियों की मौजूदगी को स्वीकार्य बनाने के लिये, पूंजीपति वर्ग की राज्य व्यवस्था एवं मीडिया ने एक लम्बा एवं सघन अभियान चलाया है। उत्तरी अमेरिका एवं यूरोप में मुसलमान विरोधी संवेदनाओं, पाकिस्तानी राजनीति में बढ़ती इस्लामिक कट्टरता का उपयोग भाजपा सरकार एवं संघ परिवार ने साम्राज्यवाद को, विशेष कर संयुक्त राज्य अमेरिका को भारत के मित्र के रूप में स्थापित करने में बखूबी किया है।

लेकिन विदेश नीति में इस नयी अमरीकापरस्ती, जिसका आगाज चन्द्रशेखर सरकार का खाड़ी युद्ध में अमरीका के पक्ष में खड़ा होने एवं उसे सैनिक मदद देने की घटना से माना जाना चाहिये, को ही समग्र विदेश नीति मान लेना गलत है। भारतीय शासक वर्ग ने 90 के दशक की नयी स्थितियों में भी अपने परम्परागत रिश्तों को बचाने की कोशिश की है और अपनी राजनैतिक सम्प्रभुता का एहसास अमेरिका को भी करवाया है। 1998 के पोखरन विस्फोट पर अमेरिकी प्रतिक्रिया वैसी नहीं थी जैसी किसी घर के बड़ों की दिवाली के पटाखे फोड़ने वाले अपने अनुज का खेल देख कर होती है। अमरीकी प्रतिक्रिया उस रोष व बैचैनी से भरी हुई थी जो कि किसी शहर के स्थापित डॉन को तब होती है जब कल के छोकरे तमंचों की नुमाइश करने लगें। ऐसे ही व्हाइट हाऊस को यह कतई अच्छा नहीं लगता कि नोर्थब्लॉक एवं क्रेमलिन के बीच घंटियां बजें या फिर भारतीय कूटनीतिक हलकों में पेरिस की रंगत की चर्चाएँ हों। परन्तु वह दांत किट-किटा कर रह जाता है। अमेरिका के लिये यह साफ है कि लाख करीबियत के बावजूद भारतीय सरकार उसकी कठपुतली नहीं बनेगी, कि वह किसी पालतू कुत्ते के गले में जंजीर डालने के बजाय एक चतुर लोमड़ी से निपट रहा है। आज की अनुकूल स्थिति में भी भारतीय शासक वर्ग को अपने दलाल में बदल डालना अमेरिका के बस का नहीं दिखता।

साम्प्रदायिकता

वैसे तो औपनिवेशिक काल में ही साम्प्रदायिकता की समस्या अस्तित्व में आ चुकी थी। उत्पीड़ित जन को आपस में बांट कर अपने शासन को चलाने की तरकीबें विकसित हो चुकी थीं और 1947 के बाद के काल में भी तात्कालिक अथवा दूरगामी उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भारतीय राजनीतिज्ञ साम्प्रदायिकता का इस्तेमाल करते रहे। परन्तु पिछले डेढ़-दो दशकों में राष्ट्रीय चुनावी राजनीति में इसका इस्तेमाल बहुत बढ़ा है और तौर-तरीकों का भी परिष्कार हुआ है। एक मायने में 1984 का संसदीय आम चुनाव भारतीय बुर्जुआ राजनीति में मील का पत्थर यूँ है कि सिख कल्लेआम के परिणाम स्वरूप राजीव गांधी की अप्रत्याशित सफलता आने वाले दिनों के लिये नजीर बनी। कांग्रेसियों से सीख लेकर आने वाले दिनों में संघ परिवार ने इसका योजनाबद्ध एवं दक्ष इस्तेमाल किया। आडवाणी की रथ यात्रा, बाबरी मस्जिद विध्वंस, कारगिल, गुजरात के दंगे जैसे राष्ट्रीय राजनीति में अनेक उल्लेखनीय अभियान हैं।

पिछले डेढ़-दो दशकों के अनुभवों से यह स्पष्ट होता जा रहा है कि अब देश में धार्मिक सवालों पर जो भी दंगा-फसाद हो रहा है, उसका सीधे-सीधे चुनावी राजनीति के साथ जुड़ाव है। दंगे स्वतः नहीं हो रहे हैं बल्कि

सुनियोजित एवं प्रायोजित हैं। इसके साथ ही साथ यह बात भी उतनी ही स्पष्टता से उजागर होती जा रही है कि चुनावी राजनीति में सफलता अच्छी-खासी धन प्राप्ति का रास्ता खोलती है। दूसरे शब्दों में, इस दौरान साम्प्रदायिकता का पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा से सीधा सम्बन्ध उजागर हुआ है। अर्थात् एक ओर भारतीय समाज में परम्परागत धार्मिक मूल्य मान्यताएं ढीली पड़ रही हैं और परस्पर विरोधी मूल्य मान्यताओं के चलते स्वतः दंगा-फसाद की परिघटना जहां कम हुई हैं, वहीं दूसरी ओर चुनावी राजनीति में कैरियर एवं धन-प्राप्ति के उद्देश्यों के तहत दंगा-फसाद का प्रायोजन बढ़ा है। परम्परागत धार्मिक विवादों तथा कलह और चुनावी राजनीति के तहत प्रायोजित साम्प्रदायिकता में भेद करना निहायत जरूरी है। पहली हासमान प्रवृत्ति है, जबकि दूसरी विकासमान। पहली का चरित्र प्राक् पूंजीवादी है जबकि दूसरी विशुद्ध पूंजीवादी है। 90 के दशक के उत्तरार्ध में जब भाजपा सरकार ने संघ परिवार के हिन्दुत्व एजेन्डे का समन्वय उग्र राष्ट्रवाद के साथ किया, तब समकालीन साम्प्रदायिकता की पूंजीवादी अन्तरवस्तु और अभिव्यक्त हुई। 1999 में कारगिल युद्ध के जरिये भड़काये गये पाकिस्तान-विरोधी, मुसलमान-विरोधी जज्बातों ने भाजपा को सत्ता एवं धन की पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा में विजय दिलवायी।

बुर्जुआ राजसत्ता का भगवाकरण, पिछले दशक, विशेषकर 1990 के दशक के उत्तरार्ध की महत्वपूर्ण परिघटना है। भारतीय पूंजीपति वर्ग पूर्ण धर्म निरपेक्षता (Secularism) की हद तक तो कभी भी नहीं गया। उसने अपनी राजसत्ता को अपूर्ण धर्म निरपेक्षता, जिसे वह 'सर्वधर्म समभाव' के रूप में व्याख्यायित करता है, पर ही आधारित किया। उसका राजनेता व चरम आदर्श नेहरू अज्ञेयवादी ही था। परन्तु पिछले वर्षों में भारतीय राजसत्ता के नौकरशाहों की अच्छी-खासी गिनती 'सर्वधर्म समभाव' से भी पीछे हटी है और उनके ही शब्दों में 'उनके भीतर का हिन्दू जाग उठा है'। शैक्षिक पाठ्यक्रमों के परिवर्तन से लेकर अर्धसैनिक बलों-पुलिस भर्ती, हर जगह धार्मिक फासीवाद की ओर भारतीय पूंजीवाद के चरित्र में यह परिवर्तन भारतीय पूंजीपति वर्ग के गहराते संकट एवं विकल्पहीनता की अभिव्यक्ति है।

भारतीय क्रान्ति के विकास एवं मेहनतकशों की एकता के लिये बढ़ते हिन्दू फासीवाद के खिलाफ संघर्ष कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का एक अहम् कार्यभार है। परन्तु इस संघर्ष को बुर्जुआ वर्ग के सर्व-धर्म समभाव पर आधारित करना गलत है। धार्मिक कूपमंडूकता के खिलाफ सघन संघर्ष और पूर्ण धर्म निरपेक्षता की स्थापना ही देश के अल्पसंख्यकों में सुरक्षाबोध पैदा कर सकती है तथा मेहनतकश आवाम के बीच सच्ची व स्थायी एकता स्थापित कर सकती है। धर्म व्यक्ति का नितांत निजी मामला है और राजनीति एवं सार्वजनिक जीवन से इसकी पूर्ण बेदखली के लिये संघर्ष ही सही कम्युनिस्ट नीति है। संशोधनवादियों से बिल्कुल अलग, सही कम्युनिस्ट नीति साम्प्रदायिकता की समस्या के समाधान को व्यवस्था परिवर्तन के साथ जोड़ेगी। कम्युनिस्ट कतारों के बीच यह बात बिल्कुल साफ रहनी चाहिये कि वर्तमान साम्प्रदायिकता एक पूंजीवादी परिघटना है और पूंजीवाद के रहते इससे निजात नहीं पायी जा सकती। दूसरी ओर, आक्रामक हिन्दू साम्प्रदायिकता से संघर्ष करते समय अल्पसंख्यक समुदायों की सांप्रदायिकता को अनदेखा करना या रियायत देना भी गलत है।

गहराते संकट एवं अपनी विकल्पहीनता को जानते हुए शासक वर्ग ने लोगों की चेतना को कुन्द करने के लिये कोई कोर कसर नहीं छोड़ी है। वर्तमान अंध राष्ट्रवाद का रूप अल्पसंख्यक विरोधी भी है। क्रांतियों के विकास को रोकने में शासक वर्ग का यह लम्बे समय से आजमाया हुआ नुस्खा है। भारत में हमें इसकी पुरजोर खिलाफत करने की जरूरत है। इस बात का खास ख्याल रखने की जरूरत है कि विरोध की हमारी जमीन शांतिवाद (pacifism) न हो। बहुत साफ तौर पर कम्युनिस्टों को भारत एवं पाकिस्तान के सर्वहारा के वर्ग हितों के एक

होने की बात को सामने लाना है और यह खुलासा करना है कि भारतीय शासक वर्ग का राष्ट्रवाद जितना पाकिस्तान के विरुद्ध है उतना ही भारतीय मेहनतकशों के भी विरुद्ध है, कि कैसे पूंजीपति वर्ग इसे भड़का कर दोनों देशों में क्रांति के विकास को रोकना चाहता है और अपने संकट को हल कर लेना चाहता है। शासक वर्ग के स्वार्थी एवं नीयत का खुलासा किये बगैर राष्ट्रवाद का विरोध शांतिवाद ही बन जाता है। अंध राष्ट्रवाद का हमारे द्वारा सही विरोध सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रवाद की जमीन पर खड़े होकर अविराम राजनैतिक भंडाफोड़ के द्वारा किया जाना चाहिये।

राष्ट्रीयताओं का उत्पीड़न

मूलाधार में पूंजीवाद के विकास ने भारत की विभिन्न राष्ट्रीयताओं के उभार को बढ़ाया है। राष्ट्रीयताओं की जनवादी आकांक्षाओं से भारतीय राज व्यवस्था का केन्द्रीकृत चरित्र बेमेल है। यह अन्तरविरोध इनके संघर्षों को जन्म देता है। पिछली सदी के आखिरी दशकों में ये संघर्ष जारी रहे, कई जगह उग्र हुए और कई जगह कमजोर पड़े। इन सभी आन्दोलनों का चरित्र समरूप नहीं है और इनके वर्ग-चरित्र की भिन्नताओं को नजरअंदाज करके इनके लिये एक ही प्रकार की समरूप नीति बनाना ठीक नहीं है।

राष्ट्रीय आंदोलनों की एक श्रेणी वह है जिस में प्रांतों के बीच संसाधनों के बंटवारे, विकास योजनाओं एवं बजट आवंटन के मुद्दों पर स्थानीय पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में आन्दोलन उठते रहे हैं। पिछले दिनों इस तरह के संघर्ष कमजोर हुए हैं। इस वक्ती शिथिलता की एक वजह केन्द्र में इलाकायी पूंजीपति वर्ग के नुमाइंदों की गठबंधन सरकारों में भागीदारी है। दूसरी वजह उदारीकरण-वैश्वीकरण की स्थितियों की बदौलत क्षेत्रीय पूंजीपति वर्ग की भूमिका में बढ़ोत्तरी है। वैसे भी इलाकायी पूंजीपति अखिल भारतीय बाजार व्यवस्था में काफी हद तक समावेशित हैं। इसलिये इलाकायी पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में ये संघर्ष भारतीय राजव्यवस्था के बुनियादी ढांचे को तोड़ने की हद तक नहीं जायेंगे, बुर्जुआ संविधान के दायरे के भीतर ही ये अपने मांगों के लिये लड़ेंगे।

कश्मीर, नागा, बोडो आन्दोलन उक्त श्रेणी के आन्दोलनों से भिन्न प्रकृति के आन्दोलन हैं। इन आन्दोलनों का नेतृत्व इलाकायी पूंजीपति वर्ग नहीं कर रहा है और न ही ये उसकी मांगों के इर्द-गिर्द संगठित हैं। कश्मीर की मुक्ति का संघर्ष उद्योगपतियों, बागान मालिकों, ग्रामीण पूंजीपतियों, बड़े होटल मालिकों का आन्दोलन नहीं है। यह कश्मीर के निम्न पूंजीपति वर्ग का आन्दोलन है। पूर्वोत्तर के राष्ट्र मुक्ति आन्दोलनों के संदर्भ में तो यह बात और साफ तौर पर दिखाई देती है। भारतीय राज्यव्यवस्था के भीतर निम्न पूंजीपति वर्ग की आकांक्षाओं को पूरा करना और इन्हें समावेशित करना सम्भव नहीं है। इसी कारण ये आन्दोलन बहुत उग्र हैं और सशस्त्र संघर्ष की अवस्था तक विकसित हो गये हैं। समावेशित न कर पाने की स्थिति में भारत की केन्द्रीयकृत राजसत्ता इन राष्ट्रीय आन्दोलनों के नेताओं को खरीदने की कोशिश करती है और अपनी पुलिस/सेना के आतंक से इन आन्दोलनों को तोड़ने की कोशिश करती है।

भारतीय राजसत्ता के विरुद्ध इस श्रेणी के आन्दोलनों का चरित्र साम्राज्यवाद -विरोधी नहीं है। साम्राज्यवाद भी इन आन्दोलनों की खिलाफत नहीं करता है और इन्हें कुचलने के लिये वह भारतीय राजसत्ता पर दबाव नहीं

बनाता है। यदि कश्मीरी मुक्ति संघर्ष के भीतर की कुछ इस्लामिक कट्टरपंथी प्रवृत्तियों को छोड़ दिया जाये तो सामान्यतः साम्राज्यवाद इनके प्रति औपचारिक तौर पर तटस्थ अवस्थिति अपनाता रहा है और इन के नेताओं-कार्यकर्ताओं को अपने यहां राजनैतिक शरण भी देता रहा है। छिपे तौर पर वह इन आंदोलनों को भड़काने में मदद करता है जिससे उसे केन्द्रीय सरकार को दबाव में लेने का मौका मिले। अपनी इस कमी की वजह से इनके योद्धाओं की किसी साम्राज्यवाद-विरोधी गठजोड़ में शामिल होने की सम्भावना अति क्षीण है। इन आन्दोलनों के भीतर कार्यरत् सर्वहारा तत्त्वों को बहुत सचेत तौर पर इनमें साम्राज्यवाद विरोधी चेतना का विकास करने की जरूरत है, नहीं तो इस बात की अच्छी-खासी सम्भावना है कि पूर्वी तिमोर के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की तरह ये भी साम्राज्यवादपरस्त आन्दोलनों में तब्दील हो जायें और अपना जनवादी चरित्र खो कर प्रतिक्रियावादी आन्दोलनों में तब्दील हो जायें। सामान्यतः भी सर्वहारा को इन आन्दोलनों का मूल्यांकन अपने वर्गीय दृष्टिकोण से करने की जरूरत है न कि बुर्जुआ राष्ट्रवाद की जमीन पर खड़े हो कर। इनके आत्म निर्णय के अधिकार को स्वीकारते हुए (जिसमें भारत से अलग होने का अधिकार शामिल है) उसे इनका सशर्त समर्थन (conditional support) करना चाहिये न कि बिना शर्त (absolute & un conditional support) समर्थन। सर्वहारा न तो इन्हें अपना आन्दोलन कह सकता है और न ही वह यह भूल सकता है कि वह इन आन्दोलनों का वहीं तक समर्थन करता है जहां तक ये उसके वर्ग के लिये राजनैतिक-जनवाद का विस्तार करते हैं तथा भारतीय राज्यसत्ता के खिलाफ उसकी लड़ाई में मदद करते हैं।

जनजातीय समस्या

भारत में विभिन्न जनजातियों के सदस्यों की संख्या 8 करोड़ के करीब है। ये जनजातियां सांस्कृतिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में हैं। देश के पूंजीवादी विकास के चलते इनका पार्थक्य कम हुआ है और आज मुख्यतः टूट चुका है। ये जनजातीय समूह भारतीय समाज के वर्गीय संरचना का अंग बनते जा रहे हैं। अपनी परम्परागत जीवन शैली एवं परिवेश से उजाड़े जाने पर इनकी दुर्गति व व्यथा बहुत ज्यादा है। पूंजीवाद की सामान्य गति इन्हें असंगठित सर्वहारा की कतारों में ठेल रही है।

जिन जनजातियों का विकास राष्ट्रीयता के स्तर तक हो चुका है वे भारत के पूंजीवादी निजाम के खिलाफ अपने संघर्ष राष्ट्रीयता के बतौर गोलबन्द हो कर लड़ती रहीं है मसलन मीजों, नागा, बोडो इत्यादि। इनकी समस्याओं का समाधान भी आत्मनिर्णय के अधिकार की पूर्ण प्राप्ति पर ही हो पायेगा। जिनका विकास अभी इस स्तर तक नहीं हो पाया है, वे भारतीय क्रांति की विशिष्ट समस्या बनती हैं। जब तक पूंजीवादी व्यवस्था कायम है तब तक इनके जंगलों के उत्पाद पर एवं अन्य परम्परागत अधिकारों का समर्थन (बशर्ते वे जनवाद एवं प्रगति विरोधी परम्परा ही न हों) कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का दायित्व है। ऐसे समर्थन के दौरान इन्हें सर्वहारा के ऐतिहासिक मिशन से अवगत कराना और निजी सम्पत्ति के उन्मूलन में इन्हें सहायत्री बनाना हमारा कार्यभार है। वर्ग सचेत सर्वहारा अपने राज में इनकी बोलियों का विकास एवं इनके बीच की समतावादी/मानवीय परम्पराओं का संरक्षण करेगा, इन्हें इस बात का यकीन दिलाना हमारा दायित्व है।

बड़े बांधों एवं अन्य पूंजीवादी परियोजनाओं के लिये इन्हें इनके परिवेश से विस्थापित करना पूंजीवादी समाज की सामान्य गति है। यह उसके विकास की शर्त है। अपने आप में उत्पादक शक्तियों का विकास ऐतिहासिक अर्थों में प्रगतिशील है और हम उसके विरोधी नहीं हैं। पूंजीवादी निजाम के तहत हम इन जनजातियों के विस्थापन के दौरान बेहतर जीवन स्थितियों के इंतजाम की आंशिक मांग के लिये संघर्ष करते हैं। वैसे हम इन्हें बताते हैं कि लाख प्रयास करने के बावजूद पूंजीवाद में विस्थापन इंतजाम क्रूर व अमानवीय ही होगा, कि यह सम्मानजनक व मानवीय सर्वहारा के राज में ही हो सकता है। अतः उसके लिए लड़ने में ही सार्थकता है।

बीते दशक में आदिवासी समस्या में दिलचस्पी लेने वाली एक गैर-सर्वहारा बुर्जुआ प्रवृत्ति आगे बढ़ी है। ये लोग सर्वहारा तानाशाही के तहत समाजवाद को भी एक उत्पीड़क व्यवस्था बताते हैं, आदिवासी संस्कृति को महिमामंडित करते हैं और समाजवाद/पूंजीवाद से अलग किसी यूटोपियाई तीसरे रास्ते पर चलते हुए आदिवासी समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं। सर्वहारा की पार्टी को जनजातीय समूहों के बीच यह बात बहुत साफ तौर पर रखने की जरूरत है कि राष्ट्रीय पैमाने पर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की मौजूदगी एवं पूंजीवादी राजसत्ता के तहत कोई भी यूटोपिया सम्भव नहीं है, कि बहुत जल्द ऐसी परियोजनाएं पूंजीवादी शोषण का अंग बन जायेंगी, कि वह अपने आदर्श के विपरीत में बदल जायेंगी। सर्वहारा की पार्टी द्वारा इन समूहों को बहुत साफ तौर पर बताने की जरूरत है कि समाजवाद ही इन्हें बेहतर जीवन दे सकता है।

भाषाई समस्या

कौमी एवं जनजातीय उत्पीड़न के अंग के बतौर भाषाई समस्या भारत में 1947 से ही बनी रही है। एक, इस रूप में कि विभिन्न बोलियों/ भाषाओं के विकास को भारतीय पूंजीपति वर्ग ने प्रोत्साहित नहीं किया, संसाधनों की किल्लत एवं उपेक्षा से इनके विकास का गला घोंटा। दूसरा, इस रूप में कि समाज के ऊपर अंग्रेजी का वर्चस्व कम करने के बजाय इसके समानांतर विभिन्न गैर-हिन्दी भाषी लोगों पर हिन्दी जबरन थोपी गयी, जिसने कालांतर में प्रतिवाद को जन्म दिया। बाद में भाषाई आधार पर राज्यों के गठन से यह समस्या कुछ हल हुई लेकिन तब भी मूलतः बनी ही रही। पिछले दशक में और उससे पहले से भी भारत में साम्राज्यवाद की स्वीकार्यता को बढ़ाने के लिये अंग्रेजी को बढ़ावा दिया गया। ऐसे में न केवल भारत के विभिन्न लोगों का भाषाई उत्पीड़न बढ़ा है, बल्कि पहचान का संकट भी गहराया है। साम्राज्यवादी संस्कृति के प्रभाव में बढ़ोत्तरी के साथ-साथ जन-अभिव्यक्ति की घुटन बहुत बढ़ी है।

सभी बोलियों/भाषाओं के विकास के लिये संघर्ष ही सही सर्वहारा अवस्थिति है। लेनिन ने रूसी भाषा की श्रेष्ठता के खिलाफ संघर्ष किया था। भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को भी उसी रास्ते पर चलना चाहिये। हिन्दी या अंग्रेजी को 'लिकिंग लैंग्वेज' का दर्जा देने की खिलाफत करते हुए, हमें सभी भाषाओं की बराबरी की बात का समर्थन करना चाहिये और लेनिन की तरह ही इस थीसिस को स्थापित करना चाहिये कि भाषाई श्रेष्ठता समाप्त होने के साथ ही, एक दूसरे की भाषाएँ सीखने की प्रवृत्ति सहज ही समाज में जोर पकड़ेगी। वैसे भी आज अनुवाद क्षमताओं और कम्प्यूटरों के विकास के पश्चात् राजकीय कामकाज कई भाषाओं में आसानी से संचालित किया जा

सकता है। बराबरी और जनवाद पर आधारित उक्त सर्वहारा अवस्थिति न केवल भारत के औपचारिक नागरिकों की भाषाओं तक सीमित है बल्कि भारत में रहने और यहां मेहनत करने वाली सभी कौमों की भाषाओं पर लागू होती है चाहे वे नेपाली हों या तिब्बती या कोई और।

नये सामाजिक आन्दोलन

1980 के दशक के अन्त में पूर्वी यूरोप में समाजवादी मुखौटे वाली राजकीय इजारेदार पूंजीवादी सत्ताओं के ढहने के साथ दुनिया के तमाम कम्युनिस्ट विरोधियों ने कम्युनिज्म के खिलाफ अपना दुष्प्रचार तेज कर दिया। इसके साथ ही सामाजिक समस्याओं के समाधान सर्वहारा के नेतृत्व में लड़े जा रहे वर्ग संघर्षों के दायरे में खोजने के बजाय नयी वर्गतर सोच का विकास भी हुआ। ऐसे 'नये सामाजिक आन्दोलन' सर्वहारा की वर्ग विचारधारा से अलग हट कर नयी विशिष्ट विचारधाराओं का निर्माण करने की कोशिश करते हैं। पर्यावरणवाद, दलितवाद, नारीवाद, मानवतावाद, आदिवासीवाद, उत्तर आधुनिकतावाद तमाम रूपों में इस 'नये सामाजिक आन्दोलन' की धारा भारत में इन दिनों विकसित हुई है। आज मुख्यतः इस खेमे में तीन तरह की बातें सुनाई देती हैं। पहली—मार्क्सवादी विचाराधारा और समाजवाद का अन्त हो चुका है, अब जो बचा है वह पूंजीवाद और जनवाद है, अतः इसे बेहतर बनाया जाये। दूसरी—दुनिया में पूंजीवाद के विकास के चलते स्पष्ट और मुखर वर्गीय संरचना दब गई है और उसका स्थान विशिष्ट सामाजिक पहचानों मसलन दलित, नारी, आदिवासी इत्यादि ने ग्रहण कर लिया है, इसलिये नये ढंग से मार्क्सवाद को व्यवहार में लाना पड़ेगा। तीसरी—मार्क्सवाद की अनेक 'सीमाएं' हैं जैसे इसका यूरोप केन्द्रित होना, या इंसान के अंतर्मन एवं अलगाव को न समझ पाना, या नारी / दलित/नीग्रो/आदिवासी इत्यादि के प्रति कम संवेदनशील होना, जिन्हें तोड़ने के लिये नारीवाद/अम्बेडकरवाद/अस्तित्ववाद से इसका मेल करने की जरूरत है।

निम्न बुर्जुआ और बुर्जुआ पृष्ठभूमि से उपजने वाले ये 'नये सामाजिक आन्दोलन' मुख्यतः साम्राज्यवाद या स्थानीय प्रतिक्रियावादी पूंजीपति वर्ग द्वारा पोषित और प्रेरित हैं और उनके वर्ग हितों के अनुरूप हैं। वर्गीय आन्दोलन के विकल्प के बतौर इन्हें प्रस्तुत किया जा रहा है। पतित हो चुके मार्क्सवादी भी इन आन्दोलनों के झण्डाबरदार बने हुए हैं।

इनके समांतर और साथ-साथ ही है गैर सरकारी संगठन परिघटना। ज्यादातर गैर सरकारी संगठन साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के एजेन्ट हैं। जो नहीं भी हैं वे भी अपने सुधारवादी कार्यक्रमों से पूंजीवाद की ही सेवा करते हैं। वे मेहनतकश जनता का पूंजीवाद से मोहभंग होना रोकते हैं और इस तरह उन्हें क्रांति से बिरत करने का प्रयास करते हैं।

सर्वहारा और मेहनतकशों की पांतों में घुस आये इन तत्वों का भण्डाफोड़ करना तथा इन्हें अलगाव में डालना आज कम्युनिस्टों के कार्यभार का हिस्सा है क्रांति को विलम्बित करने के इनके मंसूबों को बेनकाब करना निहायत जरूरी है।

शिक्षा एवं संस्कृति

मूलाधार में पूंजीवाद के मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था के मॉडल के अनुरूप अधिरचना के इन हिस्सों में परिवर्तन बहुत स्पष्ट और तेज रहा है।

1986 की नई शिक्षा नीति के बाद, 1992 में सरकार पुनः शिक्षा नीति में परिवर्तनों की योजना लेकर आयी। 1992 की योजना, 1986 की योजना का विकसित रूप थी। 1986 में तो तब भी शिक्षा के अभिजातीकरण के लिये सरकारी धन से नवोदय विद्यालय खोले जाने थे। 1992 की नीति स्पष्टतः सरकारी अथवा सरकार समर्थित शैक्षिक संस्थानों के व्यवसायीकरण की योजना है। साथ ही साथ जो नए शैक्षिक संस्थान खोले जाने हैं उनका आधार निजी पूंजी होगी, जिसके निवेश पर मुनाफे कमाये जा सकें। अर्थात् बुर्जुआ राजसत्ता शैक्षिक तंत्र का विस्तार करने के बजाय, इसे बाजार की शक्तियों के हवाले कर रही है और स्वयं को शैक्षिक तंत्र के प्रबन्धन तक सीमित रखेगी। इन नीतियों के तहत शैक्षिक तंत्र अब न केवल पूंजीवादी व्यवस्था के लिये काम करने वाले उपलब्ध करवायेगा और न केवल पूंजीवादी मूल्यों की स्थापना के लिये कार्य करेगा बल्कि उसकी शैक्षिक इकाइयां स्वयं एक पूंजीवादी उद्यम की तरह ही संचालित होंगी। इस परिवर्तन से भारतीय शिक्षा के पूंजीवादी चरित्र पर पड़ा लोक कल्याणकारी मुखौटा उतरता जा रहा है। एक तरफ यह बाजार अर्थव्यवस्था की जरूरत है तो दूसरी तरफ यह उसके संकट की भी अभिव्यक्ति है।

शैक्षिक क्षेत्र में दूसरे अहम् परिवर्तन का लेना-देना ढांचागत समायोजन से नहीं है। इसका लेना-देना पूंजीवाद के गहराते संकट से अधिक है। 90 के दशक में हिन्दू साम्प्रदायिक राजनीति करने वाले लोगों की सरकारों ने इतिहास पुनर्लेखन एवं पाठ्यक्रम परिवर्तन के लिये कदम उठाये हैं। बुर्जुआ वर्ग के भीतर से विरोध के बावजूद एक हद तक वे इस दिशा में आगे बढ़े हैं। आंशिक धर्म-निरपेक्षता एवं अपूर्ण जनवाद के स्थान पर वे हिन्दू-ब्राह्मणवादी मूल्यों को स्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं। शैक्षिक मोर्चे पर कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की मांग बराबरी से मिलने वाली निशुल्क, पूर्णतः वैज्ञानिक शिक्षा होनी चाहिये न कि केवल सामन्ती बंधनों, मूल्यों से मुक्त जनवादी शिक्षा। कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की सही, वास्तविक लड़ाई शिक्षा को बाजार तंत्र की खरीद/बिक्री से मुक्त करवाने एवं इसमें पूंजीवादी मूल्यों (विशेषकर व्यक्तिवाद) के विरुद्ध है।

शैक्षिक जगत के भीतर और इसके बाहर के व्यापक सांस्कृतिक जगत में साम्राज्यवाद की घुस-पैठ बढ़ी है। साम्राज्यवादी संस्कृति के वर्तमान हमले की खास बात यह है कि यह सामन्तवादी मूल्यों को मजबूत करने से कहीं अधिक पतित बुर्जुआ मूल्यों को स्थापित कर रही है, उपभोक्तावाद को बढ़ावा दे रही है। माया-मोह, भोग (जिन पर पूंजीवादी बाजार आधारित है) से दूर सन्यास की ओर ले जाने वाली सामन्ती परम्पराओं में मैकडोनाल्ड, कोको कोला संस्कृति की कोई प्रत्यक्ष दिलचस्पी नहीं है। साम्राज्यवादी संस्कृति (विशेष तौर अमरीकी जीवन शैली) के प्रसार के लिये मीडिया का भरपूर इस्तेमाल किया गया है और विगत दशक में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया तंत्र का अभूतपूर्व विस्तार हुआ है। आज टी.वी. प्रसारणों की पहुंच 90% से ज्यादा भारतीय आबादी तक हो चुकी है। पश्चिमी यूरोप और विशेष तौर पर अमरीका से आने वाली इस संस्कृति से भारतीय पूंजीवाद को कोई परेशानी नहीं है क्योंकि इसमें बुर्जुआ जनवाद अपवाद स्वरूप भी यदा-कदा ही दिखाई पड़ता है। नागरिक तैयार करने के

बजाय यह संस्कृति उपभोक्ता तैयार कर रही है। उपभोक्ताओं की मांगों में वृद्धि एवं उनकी गिनती में बढ़ोत्तरी भारतीय पूंजीपति वर्ग के हितों के अनुरूप है। उपभोक्तावाद एवं समग्र साम्राज्यवादी संस्कृति के खिलाफ हमारे संघर्ष की अंतर्वस्तु सामंतवाद विरोधी जनवाद नहीं पूंजीवाद विरोधी सर्वहारा संस्कृति होगी।

इस काल में इंसान-इंसान के बीच की दूरियां भी काफी बढ़ी हैं। एक ही परिवेश में रहने वाले लोगों, एक ही वर्ग, समुदाय के सदस्यों के बीच पूंजीवाद के निर्वैयक्तिक, पार्थक्यपूर्ण सम्बन्धों का अच्छा-खासा विकास हुआ है। परम्परागत समुदाय बोध का हास हुआ है। परम्परागत इंसानी रिश्ते-नातों के ढीले पड़ने की पीड़ा को जहां लोग एक ओर झेल रहे हैं वहीं वे नयी संस्कृति के अनुरूप अपने को ढाल भी रहे हैं। बुर्जुगों एवं आर्थिक गतिविधियों के हाशिये पर पड़े लोगों के लिये इन नये रिश्तों का कष्ट अन्य लोगों की तुलना में कहीं ज्यादा है। लेकिन कम या ज्यादा मात्रा में सभी लोग, पूंजीवादी उत्पादन एवं वितरण में अंतर्निहित ऐसी पार्थक्यपूर्ण संस्कृति की परेशानियों को झेल रहे हैं। कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को साहित्यकारों, संस्कृति कर्मियों के बीच इस सवाल को मुद्दा बनाकर इसकी पूंजीवादी जड़ों को उजागर करने की जरूरत है।

जाति व्यवस्था

पिछले डेढ़-दो दशक के दौरान भारत की जातीय परिघटना में दो अपेक्षाकृत नई एवं महत्वपूर्ण प्रवृत्तियां दिखायी दीं। एक—निचली एवं मध्य जातियों का चुनावी बुर्जुआ राजनीति में उभार। दो—‘ऊंची’ जातियों द्वारा ‘नीची’ जातियों के दमन के लिये सशस्त्र सेनाओं का गठन।

चुनावी बुर्जुआ राजनीति में इस काल में बसपा के झंडे तले दलित जातियों तथा लालू-मुलायम जैसे सुधारवादी समाजवादियों के नेतृत्व में मंझली जातियों का उभार निस्संदेह परम्परागत जातीय बंधनों के ढीला होने तथा दबी हुई जातियों के बीच एक शिक्षित मध्य वर्ग के पैदा हुए बिना नहीं हो सकता था। अधिरचना में ऐसी परिघटना का स्पष्ट कारण मूलाधार में उससे पूर्ववर्ती तीन-चार दशकों के क्रमिक परिवर्तन हैं, जिनकी जड़ में नई पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली है। नयी पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली ने क्रमशः निश्चित पेशा आधारित जाति व्यवस्था को तोड़ दिया और इस तरह जाति व्यवस्था का हजारों वर्षों का आर्थिक आधार ध्वस्त कर दिया। दबी-कुचली जातियों के सदस्यों को परम्परागत सम्बन्धों के बाहर शहरों, अन्य देहाती इलाकों एवं अपने ही गांव में भी रोकड़ के बदले मजदूरी करने के जो नये अवसर मिले उन्होंने उनके मनोबल को ऊपर उठाया। बुर्जुआ राजसत्ता की आरक्षण नीति ने दलित जातियों के बीच से एक मध्यवर्ग को तैयार किया। मंझली जातियों को भी शिक्षा के जो अवसर मिले उनसे वहां भी ऐसा ही हुआ। कृषि क्षेत्र में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के विकास ने मंझली जातियों के खुशहाल किसानों को ऊपर उठने एवं ग्रामीण पूंजीपति बनने के मौके प्रदान किये। इन नव-धनाढ्यों की आर्थिक समृद्धि ने इनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ जगार्यीं और अपनी जातियों को गोलबन्द करते हुए ये चुनावी दंगल में उतरते गये। निम्न एवं मंझली जातियों के राजनैतिक उभार के पीछे पूंजीवादी आर्थिक रिश्तों के आधार के अलावा किसी और आधार को चिन्हित करना गलत होगा।

दूसरी ओर 'ऊंची' जातियों द्वारा 'नीची' जातियों के दमन के लिये सशस्त्र सेनाओं का गठन पुराने सामन्ती दबदबे को बचाये रखने की कोशिश है। उत्पादन प्रक्रिया में गैर आर्थिक दबाव (extra economic - coercion) को बनाये रखने की यह कोशिश है। यहां गौरतलब यह नहीं है कि यह गैर-आर्थिक दबाव है या नहीं। यहां गौरतलब यह है कि यह गैर-आर्थिक दबाव अर्थव्यवस्था में बंधुआ मजदूरी एवं मध्ययुगीन दासता के अन्य पुराने रूपों को बनाये रखने के लिये है या दिहाड़ी मजदूरी की दर को नीचा रखने के लिये। दिहाड़ी-मजदूरी की दर को नीचा रखने के लिये एवं मजदूरों के अभाव में मजदूर उपलब्ध करवाने के लिये पूंजीवाद की शुरूआती मंजिलों में गैर आर्थिक दबाव का उपयोग बिल्कुल सामान्य बात है और मार्क्स-एंगेल्स ने तो इसके लिये ब्रिटेन में राजसत्ता के उपयोग का भी वर्णन किया है। बिहार में 'ऊंची' जातियों के सम्पत्तिवान लोगों द्वारा निजी सशस्त्र सेनाओं का गठन अधिरचना में परम्परागत सामन्ती वर्चस्व को बनाये रखने की कोशिश है जो कि मूलाधार में तब्दीलियों के कारण ढीला पड़ रहा है। पुराने जातिगत संस्कारों के टूटने एवं निम्न जातियों की विकसित होती राजनीतिक चेतना ने 'ऊंची' जातियों को यह नया रास्ता अपनाने के लिये बाध्य किया है। अधिरचना में यह सामंती अवशेष है जो कि मूलाधार के पूंजीवाद में गैर-क्रांतिकारी संक्रमण के कारण तीखेपन से अभिव्यक्त होने लगा है।

जातीय परिघटना के संदर्भ में अपने रणकौशल तय करते समय कम्युनिस्ट वर्ग को जाति की श्रेणी से स्थानांतरित करने की गलती नहीं कर सकते। यह मानना कि जातीय संघर्ष ही वर्ग संघर्ष है, बिल्कुल गलत रणकौशल है और 'ऊंची' जातियों के सर्वहारा एवं मेहनतकशों को दुश्मन के खेमे में खड़ा करता है। क्रांतिकारी कम्युनिस्ट जातीय समस्या का समाधान सर्वहारा वर्ग संघर्ष के तहत ही कर सकते हैं न कि जातियों को अलग से संगठित करके।

ऐसे ही वर्तमान समाज में जातियों के लिये आरक्षण का एजेन्डा कम्युनिस्टों का अपना एजेन्डा नहीं है। लेकिन अगर उत्पीड़ित जातियों के संदर्भ में यह किसी अन्य विचारधारा वाले लोगों द्वारा उठाया जाता है तो आंशिक मांग (partial demand) के तहत कम्युनिस्ट इसका समर्थन कर सकते हैं और सामान्यतः करते हैं। अपनी ओर से कम्युनिस्ट समाज के क्रांतिकारी परिवर्तन के लिये उत्पीड़ित जातियों के लोगों को संगठित करेंगे और अपने प्रचार में यह साफ करेंगे कि क्यों क्रांति उपरान्त भारत में किसी भी आरक्षण नीति की आवश्यकता नहीं होगी और कैसे आरक्षण जैसे तकनीकी प्रशासनिक नुस्खे से कहीं बेहतर जन समाधानों के जरिये जातीय समस्या का भौतिक एवं आत्मिक समाधान किया जायेगा।

इतिहास के वर्तमान दौर में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को उत्पीड़ित जातियों के सदस्यों के मध्य यह भी साफ करने की जरूरत है कि कैसे पूंजीवादी संकट और साम्राज्यवाद उनके आगे बढ़ने में बाधक हैं। साथ ही साथ उन्हें यह भी साफ करने की जरूरत है कि उनके बीच के नवधनाढ्य बुर्जुआ राजनीति में उनका उपयोग कर रहे हैं और क्यों सर्वहारा वर्ग एवं उसकी पार्टी ही उनके सच्चे मित्र हैं। जनता के बीच दलित-पिछड़ी राजनीति के बुर्जुआ चरित्र का खुलासा करने के पहले कम्युनिस्टों को अपनी ही कतारों के कुछ हिस्सों में तरह-तरह की पिछड़ी जाति/दलित विचारधाराओं के प्रति नव जागृत आकर्षण से लड़ना होगा।

नारी समस्या

90 के दशक में महिला विधेयक बार-बार संसद में पेश हुआ और पारित न हो सका। राष्ट्रीय स्तर की यह घटना एक ही साथ दो चीजों की अभिव्यक्ति है। एक ओर यह महिलाओं की विकसित हो रही चेतना की स्वीकारोक्ति है और दूसरी ओर सांसदों के पितृसत्तात्मक एवं जातिवादी मूल्यों की। पुराने समाज में महिलाओं की कोई सामाजिक व राजनैतिक हैसियत नहीं थी। उभरते हुए नये समाज में उनकी अस्मिता स्वीकार की जा रही है। समाज के पूंजीवादी विकास ने एक हद तक महिलाओं को पुरुषों से स्वतंत्र पहचान दी है और इसके साथ ही पैदा हुआ है उनकी पहचान का संकट भी। भारतीय पूंजीपति वर्ग के कुछ सदस्य इसे महिलाओं के चन्द प्रतिनिधियों को संसदीय राजनीति में समावेशित करने तक सीमित रखना चाहते हैं, जबकि दूसरों के पितृसत्तात्मक एवं जातिवादी मूल्य आड़े आ रहे हैं।

विगत वर्षों की तमाम छोटी-बड़ी घटनाओं ने यह साफ तौर पर दिखाया है कि नारी मुक्ति का सवाल शनैः-शनैः इतिहास की कार्यसूची में दाखिल होता जा रहा है। ऐसे में स्वाभाविक है कि इसके समाधान को लेकर अलग-अलग वर्ग अलग-अलग अवस्थितियां ग्रहण करें। बुर्जुआ विचारधारा यह जताने की कोशिश बार-बार करती है कि पितृसत्तात्मक मूल्य मूलतः परिवार के भीतर हैं जबकि सर्वहारा विचारधारा पितृसत्ता को पतियों, भाइयों, पिताओं, मर्द रिश्तेदारों के हाथों महिला उत्पीड़न तक सीमित नहीं करती है। सर्वहारा विचारधारा यह स्थापित करने के लिये संघर्ष करती है कि परिवारों के संस्कारों / आदतों की अपेक्षा पितृसत्ता का निजी सम्पत्ति एवं राज्य से कहीं गहरा रिश्ता है। सर्वहारा विचारधारा यह बताती है कि परिवारिक संस्कार/आदतें निजी सम्पत्ति एवं वर्ग सत्ता की अभिव्यक्तियां मात्र हैं, कि नारी उत्पीड़न के इस भौतिक आधार को बदले बगैर इसे समाप्त नहीं किया जा सकता। अतः सम्पत्तिवान वर्गों की राजसत्ता के खिलाफ वर्ग संघर्ष की विजय के साथ नारी मुक्ति का सवाल अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। दुनिया भर के साम्राज्यवादी नारी मुक्ति आन्दोलन को वर्ग संघर्ष से अलग करने की पूरी-पूरी कोशिश कर रहे हैं। वे इसे किन्हीं वर्गतर नारी आन्दोलनों से विस्थापित करने की कोशिश करते हैं जो कि निजी सम्पत्ति एवं वर्ग सत्ता को प्रमुख मुद्दे न बनाते हों। ऐसा करने के साथ-साथ वे कम्युनिस्ट नारी आंदोलन की विश्वव्यापी साख को खत्म करने की पूरी-पूरी कोशिश कर रहे हैं।

सामाजिक यथार्थ यह है कि पूंजीपति वर्ग एक समुदाय के बतौर महिलाओं का शोषण एवं उत्पीड़न करता है। महिलाओं के लैंगिक उत्पीड़न से पूंजीपति वर्ग मुनाफा कमाता है। उसकी नजर में नारीत्व सामान बिकवाने में सहायक है और श्रृंगार एवं अन्य सामग्री का बाजार है। समाज में वासना, औरतों को उपभोग की वस्तुएं मानने के पितृसत्तात्मक मूल्यों के बने रहने पर उसका अच्छा-खासा उद्योग टिका हुआ है। पूंजीपति वर्ग अपने आर्थिक हितों की पूर्ति के लिये समाज में नारी उत्पीड़क संस्कृति का निर्माण करता है। समाज में पूंजीपति वर्ग द्वारा निर्मित संस्कृति परिवारों के भीतर भी रिस-रिस कर पहुंचती है और जनवादी से जनवादी परिवार के नितान्त आत्मीय रिश्तों को भी प्रभावित करती है। परिवारों के भीतर घरेलू हिंसा एवं अत्याचार, पूंजीवादी समाज में हो रही वर्गीय एवं लैंगिक हिंसा की प्रतिछाया है, चाहे इसकी वाहक मां, सास हो या घर के मर्द। भारत का शक्तिशाली सामन्ती अतीत पूंजीपति वर्ग द्वारा महिला उत्पीड़न में सहायक है। सामन्ती समाज के तमाम नारी-विरोधी रूपों को अपना कर (जरूरत पड़ने पर थोड़ी फेरबदल कर) पूंजीपति वर्ग अपना कारोबार चलाता है। दहेज से लेकर रक्षा बन्धन तक और मुजरा से लेकर वेश्यावृत्ति तक अतीत के लगभग हर रूप को अपना कर भारतीय पूंजीवाद ने अपने बाजार का विस्तार किया है।

पिछले दशक से भारतीय समाज में साम्राज्यवाद का बढ़ता प्रभाव कहीं से भी भारतीय महिलाओं की समस्या का समाधान नहीं कर रहा है। नारीत्व के आदर्श के बतौर वह ज्यादा से ज्यादा घर की चाहरदीवारी में

सिमटी हुई सीता का विस्थापन पति की बेवफाई के बावजूद पति के कैरियर की रक्षा करने वाली हिलेरी क्लिंटन से कर रहा है। ऐसे में नारी उत्पीड़न की वर्गीय प्रकृति को अनदेखा करना कतई गलत है।

साम्राज्यवादी-पूंजीवादी तथा पितृसत्तात्मक सामंती शोषण/उत्पीड़न के खिलाफ एक समुदाय के रूप में महिलाओं को संगठित करना सही रणकौशल है। इस कार्यवाही से सर्वहारा या अन्य मेहनत कश वर्गों की वर्गीय एकता टूटती नहीं है। यह जरूर है कि यदि नारी संगठन की धार साम्राज्यवाद/पूंजीवाद के खिलाफ होगी तो शासक वर्गीय परिवारों की महिलाएं ऐसे संगठन के प्रति उदासीन एवं विरोधी अवस्थिति अपनायेंगी। कम्युनिस्ट अपने नेतृत्व में जिन नारी संगठनों को खड़ा करेंगे वे मूलतः सर्वहारा एवं मेहनतकश वर्गों की महिलाओं के संगठन होंगे और ऐसे नारी संगठनों की वर्गीय पक्षधरता बहुत स्पष्ट होगी। इतिहास के वर्तमान दौर की खासियत यह है कि निजी सम्पत्ति विरोधी क्रांति ही नारी समस्या का सही समाधान प्रस्तुत कर सकती है और महिलाएं ऐसी क्रांति का महत्वपूर्ण घटक बनेंगी। भारतीय क्रांति में महिलाओं की भूमिका बनाने के लिये सर्वहारा की पार्टी को अनेक रचनात्मक प्रयोग करने होंगे।

समग्र अधिरचना

भारतीय समाज में अधिरचना एवं मूलाधार के बीच का अन्तरविरोध, मूलाधार में स्थापित पूंजीवाद के अनुरूप बदलता जा रहा है। अधिरचना का राजकीय हिस्सा अपने रूप एवं अन्तरवस्तु में 1950 से ही पूंजीवादी है जो कि सीमित जनवाद की व्यवस्था करता है। अधिरचना के राज्येतर हिस्सों का रूप परम्परागत प्राकपूंजीवादी है लेकिन इन रूपों के भीतर की अन्तरवस्तु का तेजी के साथ पूंजीवादीकरण हो रहा है। वैसे अधिरचना के राज्येतर हिस्सों में अनेक विशुद्ध पूंजीवादी रूप भी स्थापित हो चुके हैं, मसलन संयुक्त परिवारों की जगह एकल परिवार अथवा बेतरतीब बड़े परिवारों की जगह परिवार नियोजन का मजबूत होता हुआ रुझान इत्यादि।

जो नई अधिरचना अस्तित्व में आ रही है उसके अपने अंतर्विरोध हैं। अधिरचना में मौजूद ये अंतरविरोध दिन-ब-दिन तीखे होते जा रहे हैं। पूरे समाज में हर रोज हो रही आत्महत्याएं और चौतरफा निराशा, कलह, दंगे, क्षोभ इत्यादि तीखे हो जाने के बावजूद इन अंतर्विरोधों के हल न हो पाने की अभिव्यक्तियां हैं। एकल जीवन पद्धति और निजी संपत्ति पर आधारित किसी समाज में ये हल हो भी नहीं सकते हैं। इनका समाधान सामूहिक जीवन और सामाजिक संपत्ति पर आधारित समाज में ही किया जा सकता है।

आज देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का यह दायित्व है कि वे इन सामाजिक समस्याओं का वैज्ञानिक विश्लेषण करें और इनके समाजवादी समाधान में जनता का यकीन बनायें।

IV. वर्ग—शक्तियां

पिछले चार-पांच दशकों में भारतीय समाज की वर्गीय संरचना में जितना व्यापक और तेज परिवर्तन हुआ है उतना पहले कभी नहीं हुआ था। यह प्रक्रिया 20 वीं सदी के आखिरी दशक में भी जारी रही है। इस प्रक्रिया के तहत कई नये वर्ग अस्तित्व में आ रहे हैं (ऐसे वर्ग जो भारत में पहले कभी मौजूद नहीं थे) और कई पुराने वर्ग (जो कि सदियों से मौजूद रहे हैं) अब अस्तित्वहीन होते जा रहे हैं। वर्ग निर्माण (class-formation) और वर्ग-वियोजन (class-decomposition) की इस प्रक्रिया ने भारत के देहात व कृषि में एक पूंजीपति वर्ग को पैदा किया है और शहरी पूंजीपति वर्ग का अभूतपूर्व विस्तार किया है। इसने तेजी के साथ शहरी सर्वहाराओं के समानांतर ग्रामीण सर्वहाराओं का एक नया वर्ग पैदा किया है। इनके साथ ही साथ आज लम्पट सर्वहाराओं की एक लम्बी कतार अस्तित्व में आ चुकी है। पुराने खुशहाल किसानों का नई खेती के माहौल में पूंजीवादी कुलकों में रूपांतरण हो रहा है। इसके समानांतर पुराने शहजादों, नवाबों, सामंतों, जमींदारों का वर्ग विलुप्त हो चला है। इनमें से अधिकांश लोग नये किस्म के पूंजीवादी उद्यमी बन चुके हैं और जो अपनी पुरानी जड़ मानसिकता से मुक्त नहीं हो पाये हैं वे कंगाल होकर समाज के नये वर्गों में शामिल हो गये हैं। पुराने किस्म के स्थाई हलवाहे और सामंती बंधनों में जकड़े हुए भूमिहीन किसान अब भारतीय देहात की चारित्रिक पहचान नहीं रह गये हैं। उत्पादन प्रक्रिया में उनकी जगह छोटी अवधि के अनुबंध पर काम करने वाले ग्रामीण सर्वहाराओं ने ले ली है। बंधुआ मजदूर आज अपवाद हो चुका है। वह भारतीय गांव का सामान्य घटक नहीं है। विविध प्रकार के दस्तकार एवं शिल्पकार भी वर्ग-वियोजन के शिकार हैं। अभी किसान समुदाय का विलोप तो नहीं हो रहा है परन्तु उसके विभेदीकरण की प्रक्रिया काफी तेजी पकड़ रही है।

ऐसी स्थिति में भारतीय क्रांति पुरानी वर्ग-शक्तियों पर आधारित नहीं होगी। यह नयी वर्ग-शक्तियों के नये संश्रयों पर आधारित होगी। यह बात क्रांति के दुश्मनों के लिये भी सही है और दोस्तों के लिये भी। आज सामाजिक यथास्थिति को बनाये रखने वाले वर्ग भी पारम्परिक नहीं हैं और उसे तोड़ने वाले मूल वर्ग भी नये हैं। अतः यह जरूरी है कि जो नयी वर्गीय संरचना अस्तित्व में आयी है, उसके विभिन्न घटकों की स्थिति पर गौर किया जाये और उनके वर्गीय हितों का विश्लेषण करके क्रांति के दुश्मनों-दोस्तों की कतारबन्दी को समझा जाये। वर्तमान भारत की वर्गीय संरचना इस प्रकार है:

पूंजीपति वर्ग

यह भारतीय समाज का सबसे संगठित वर्ग है। राजसत्ता इसके हाथ में है। कांग्रेस, बी.जे.पी., डी.एम.के., ए.आई.डी.एम.के., जनता दल, बसपा इत्यादि तमाम पार्टियां जो समय-समय पर केन्द्र में गठबन्धन सरकारें बनाती रहती हैं या प्रांतों में सत्तासीन हैं, इस वर्ग की पार्टियां हैं। देश की अधिकांश परिसम्पत्तियों एवं भूमि पर इसका या तो प्रत्यक्ष मालिकाना है या फिर वे इसके नियंत्रण में हैं। अपने मालिकाने या नियंत्रण में उत्पादक इकाइयों को अपनी इच्छा अनुसार नियोजित करने के अलावा अर्थव्यवस्था को अपने स्वार्थों के अनुरूप विकसित करने के लिये इसके सदस्यों ने राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तर के अनेक आर्थिक संगठन खड़े किये हैं। इन आर्थिक संगठनों के अलावा इस वर्ग की अपनी राजनीतिक पार्टियां हैं जो संसद, विधान सभाओं एवं अन्य निचले निकायों में इस वर्ग की राजनीति करती हैं। समाज की चेतना, मूल्यों और संवेदनाओं को नियंत्रित करने के लिये यह वर्ग अनेक धार्मिक एवं धर्म-निरपेक्ष सांस्कृतिक संस्थाओं का भी पालन-पोषण करता है। समग्र सामाजिक व्यवस्था इस वर्ग के हितों की

पूर्ति के लिये कार्य करती है। इतिहास की प्रगति को इसी मुकाम पर रोके रखने में इसका पूर्ण स्वार्थ है। यह भारतीय क्रांति का सबसे कट्टर और सबसे मजबूत दुश्मन है।

इस वर्ग के शीर्ष पर करीब 150 इजारेदार घराने हैं। इनकी कम्पनियां देश के विभिन्न स्टाक एक्सचेंजों में न केवल पंजीकृत हैं बल्कि ये सूचीबद्ध (Listed) भी होती हैं। इस अभिजात समूह में टाटा, बिड़ला, प्रेमजी, अम्बानी जैसे निजी पूंजीपतियों के साथ-साथ सार्वजनिक क्षेत्र की बड़ी औद्योगिक व वित्तीय संस्थाओं के डायरेक्टरों को भी शामिल करना जरूरी है। इन्हें शामिल करने पर यह अभिजात समूह लगभग दो गुना हो जाता है। उक्त इजारेदार पूंजीपतियों के अलावा भारतीय पूंजीपति वर्ग का अहम् घटक छोटे व मझोले पूंजीपति बनते हैं अर्थात् स्माल स्केल सेक्टर (Small Scale Sector) की इकाइयों के मालिकों की आर्थिक हैसियत तक के लोग। ये अरबपति नहीं हैं परन्तु देश के करोड़पतियों में इनकी गिनती होती है। मझोले व छोटे दर्जे के उद्योगों के पूंजीपतियों के अलावा व्यापार एवं सेवा क्षेत्र के गैर-इजारेदार पूंजीपतियों, सरकार के नौकरशाहों तथा विभिन्न पार्टियों के चुनाव लड़ने वाले राजनीतिज्ञों का यह समूह काफी बड़ा है। इसके सक्रिय सदस्य ही 45-50 लाख हैं और अपने परिवारजनों के साथ इनकी गिनती 1.5-2 करोड़ के करीब है। पूंजीपतियों के उक्त धड़े से बड़ा है इनके अपेक्षाकृत 'गरीब' देहाती भाइयों का समूह। ये लोग सामान्यतः खुशहाल किसानों में से उठकर ऊपर आये हैं और आधुनिक किस्म की खेती एवं मजदूरों की श्रम शक्ति के शोषण की बदौलत ये अपनी हैसियत बढ़ा रहे हैं। इन्हीं में ऐसे पुराने सामंती भूस्वामियों की संतानें भी शामिल हैं जो बंटाई पर जमीन उठाने के बजाय अब खुद खेती करवाने लगे हैं। इन्हीं दोनों श्रेणियों के लोगों ने ग्रामीण परिवहन, भंडारण एवं कृषि उद्योगों में भी पूंजी निवेश किया है। देहाती पूंजीपतियों के इस समूह की सदस्य संख्या लगभग 2 करोड़ है और अपने परिवारजनों के साथ ये करीब 6-7 करोड़ लोगों का समूह हैं। ग्रामीण सर्वहाराओं की श्रम शक्ति के शोषण से फल-फूल रहा यह समूह आज भारतीय देहात का सबसे यथास्थितिवादी समूह है और देहात में पूंजीवाद का आधार है। देहाती और शहरी पूंजीपति वर्ग के सदस्यों की कुल संख्या करीब 2½ करोड़ है अपने परिवारजनों के साथ यह लगभग 9 करोड़ लोगों का समूह है। अफगानिस्तान अथवा नेपाल की कुल जनसंख्या के बराबर गैर-इजारेदार पूंजीपतियों के इस विशाल वर्ग के मजबूत आधार पर खड़ी है थोड़े से इजारेदार पूंजीपतियों के वैभव की दुनिया। इजारेदार एवं गैर इजारेदार पूंजीपतियों का यह वर्ग उजरती श्रम के शोषण की बदौलत अस्तित्वमान है और भारतीय समाज का शासक वर्ग है।

भारत के अधिकांश छोटे व मझोले पूंजीपतियों का आविर्भाव 1947 के बाद की संरक्षित अर्थव्यवस्था में हुआ है। ऐसे ही देहाती पूंजीपतियों के विशाल समूह का गठन पिछले 3-3½ दशकों में हुआ है। अपनी आर्थिक हैसियत में एक औसत देहाती पूंजीपति किसी इजारेदार पूंजीपति के कारोबार के एक औसत प्रबन्धक के बराबर भी नहीं ठहरता है। अपनी पसन्द, आदतों व सांस्कृतिक स्तर में यह अभी ठेठ किसान ही है। परन्तु वर्ग-हितों की समरूपता इसे इजारेदार पूंजीपति का छोटा भाई बनाती है। पूंजीवादी व्यवस्था की हिफाजत के लिये यह अपने इजारेदार बड़े भाई के साथ हर षड़यंत्र व हर कुकर्म करने के लिए तैयार है।

भारत के पूंजीपति वर्ग में अनेक बंटवारे एवं तरह-तरह की खेमेबन्दी मौजूद है, मसलन इजारेदार एवं मझोले छोटे पूंजीपतियों के बीच का बंटवारा, निजी पूंजीपतियों और सार्वजनिक क्षेत्र के नौकरशाह पूंजीपतियों के बीच खेमेबन्दी, या फिर औद्योगिक-शहरी एवं ग्रामीण पूंजीपतियों के बीच की खेमेबन्दी। परन्तु हमारे यहां साम्राज्यवाद के दलाल एवं साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय पूंजीपतियों के बीच का कोई बंटवारा मौजूद नहीं है। हमारे

देश के क्रांतिकारी आन्दोलन के ढेर सारे लोगों की यह प्रस्थापना गलत है कि गैर-इजारेदार छोटे पूंजीपति (Small Scale Industrialists) ही भारत के राष्ट्रीय पूंजीपति हैं। हालांकि इन गैर-इजारेदार छोटे-पूंजीपतियों के अपने संगठन हैं परन्तु वे उतने ही “राष्ट्रवादी” अथवा साम्राज्यवाद-परस्त हैं जितने इजारेदार पूंजीपतियों के संगठन। इन छोटे-पूंजीपतियों की एक भी राष्ट्रवादी राजनीतिक पार्टी नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे इजारेदार पूंजीपतियों की कोई राष्ट्रवादी पार्टी नहीं है। साम्राज्यवाद के विरोध अथवा समर्थन के सवाल पर इजारेदार एवं छोटे पूंजीपतियों में कोई अन्तर नहीं है, दोनों की अवस्थितियां एक जैसी दुरंगी हैं। इसके ठोस आर्थिक कारण हैं। भारत के कुल निर्यात में 35% हिस्सा इन छोटे गैर-इजारेदार पूंजीपतियों (S.S.I.) का है। ऐसे में यह उम्मीद करना कि ये छोटे पूंजीपति किसी मुकाम पर भारतीय अर्थव्यवस्था के साम्राज्यवाद से पूर्ण विच्छेद के लिये आगे आयेंगे जमीनी सच्चाई को नजरअंदाज करना है। औद्योगिक-शहरी पूंजीपतियों के पिरामिड के इस विशाल आधार (31 लाख से अधिक S.S.I. उत्पादक इकाइयां), के चरित्र पर विचार करते समय इन्हें छोटे कारखानेदारों एवं लघु उद्यमियों के साथ घाल-मेल करना भी गलत है। टाइनी सेक्टर (Tiny Sector) के ये लघु-उद्यमी एवं छोटे कारखानेदार पेटी बुर्जुआ वर्ग के सदस्य हैं, न कि पूंजीपति वर्ग के। सामान्यतः ये अपनी उत्पादक इकाइयों का समस्त प्रबन्धन स्वयं करते हैं (पेशेवर प्रबन्धक नियुक्त करने की इनकी हैसियत नहीं होती है) और ढेर सारी इकाइयों में ये उत्पादन प्रक्रिया में भी प्रत्यक्ष हिस्सेदारी करते हैं। इनका अस्तित्व दांव पर लगा रहता है, इनकी पूंजी बनती-टूटती रहती है, इकाइयां खुलती-बन्द होती रहती हैं। पेटी बुर्जुआ वर्ग के ऐसे तत्व, भारतीय अर्थव्यवस्था के साम्राज्यवाद से पूर्ण विच्छेद के हिमायती बन सकते हैं।

ऊपर वर्णित स्थिति का दूसरा पक्ष यह है कि आज भारत के इजारेदार पूंजीपतियों का चरित्र चीन के च्याङ्ग काई-शेक, छन बन्धु, टी.वी.सुङ्ग, एच.एच.खुङ्ग घरानों से मिलता - जुलता भी नहीं है। ये साम्राज्यवाद की कठपुतलियां, उसके पालतू कुत्ते एवं उसके दलाल नहीं हैं। चीनी इजारेदार-नौकरशाह पूंजीपति किसी निश्चित साम्राज्यवादी धड़े के साथ जैसे दलाल-मालिक रिश्ते में बंधे हुए थे, वैसी आश्रितता एवं वफादारी के रिश्ते भारत के इजारेदार पूंजीपतियों के किसी भी साम्राज्यवादी धड़े के साथ नहीं हैं। भारत के इजारेदार पूंजीपति अपने अस्तित्व के लिये साम्राज्यवाद पर निर्भर नहीं हैं। साम्राज्यवाद से इनका स्वतंत्र अस्तित्व एवं वजूद है। साम्राज्यवाद के साथ ये अपनी जरूरत के मुताबिक नजदीकी एवं दूरी घटाते-बढ़ाते रहते हैं और साम्राज्यवादियों के विभिन्न धड़ों के बीच मोल-भाव भी करते रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों में परिवर्तनों के साथ-साथ इन पर साम्राज्यवाद का आर्थिक-राजनीतिक-सामरिक दबाव घटा-बढ़ता रहता है। ये कभी भी उससे पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाये हैं परन्तु वह दबाव है, एक पालतू कुत्ते की दासता व आश्रितता नहीं है। साम्राज्यवाद के साथ भारतीय पूंजीपति वर्ग के सम्बन्ध को कनिष्ठ साझेदारी (junior partnership) के बतौर परिभाषित करना ही सबसे उचित है। दलाली की अपेक्षा कनिष्ठ साझेदारी कहीं बेहतर स्थिति है और यह भारतीय पूंजीपति वर्ग की अपनी राजसत्ता एवं अपने घरेलू बाजार पर आधारित है।

भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र की एक अन्य विशेषता यह है कि अपने उद्भव से लेकर आज तक यह कभी भी क्रांतिकारी या उग्र परिवर्तनवादी नहीं रहा है। इस वर्ग के सभी घटक उग्र परिवर्तनों के विरोधी रहे हैं। यह एक सुधारवादी वर्ग है। सामन्तवाद के प्रति भी इसका सुधारवादी दृष्टिकोण है- वह भी उग्रपरिवर्तनवादी सुधारवाद नहीं, क्रमिक सुधारवाद। सामंती जड़ता और सामंती भू-लगान को बनाये रखने में इसकी कोई दिलचस्पी नहीं है। इसके वर्ग हित इस बात की मांग करते हैं कि राष्ट्रीय बाजार का विकास किया जाये, कि आर्थिक

मूलाधार और अधिरचना दोनों में ही सामन्तवाद को समाप्त करके पूंजीवादी रिश्ते स्थापित किये जायें। 1947 में राजसत्ता पर काबिज होने के बाद इसने पिछली आधी शताब्दी लगाकर धीरे-धीरे यह काम इस हद तक किया है कि अब सामंती शोषण हमारे समाज की मुख्य बात नहीं रही, पूंजीवादी शोषण व आधिपत्य के रिश्तों ने उसकी जगह ले ली है। आधी शताब्दी के सुधारों के बावजूद भारत के आर्थिक मूलाधार एवं अधिरचना दोनों में ही सामंती अवशेष बचे रह गये हैं। इन सुधारों ने पुराने सामंतों को पूंजीवादी शोषण प्रणाली अपनाने का पूरा-पूरा मौका दिया, उनका सम्पत्ति हरण नहीं किया।

भारतीय पूंजीपति वर्ग न केवल देश में हो रहे उत्पादन एवं वितरण के अधिकांश को नियोजित व नियंत्रित करता है बल्कि वह देश के समग्र जीवन को ही संचालित करता है। उसकी राजसत्ता के नियम-कायदे-कानून, हिंसा एवं आतंक के अलावा उसकी विचारधारा का आधिपत्य (Ideological Hegemony) इस संचालन में बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है। पिछले एक दशक में वह जिस तरह बहुत ही थोड़े जन-प्रतिरोध का सामना करते हुए आर्थिक सुधारों को एक के बाद एक लागू करने में सफल रहा है, उससे उसके विचारधारात्मक आधिपत्य का सहज अन्दाजा लगता है। भारतीय समाज में पूंजीवादी व्यक्तिवाद हावी है। भारतीय पूंजीपति वर्ग विचारधारात्मक आधिपत्य की अहमियत को समझता है और वह रेडियो, टी.वी., अखबारों, फिल्मों, पत्रिकाओं, संगठनों, सांस्कृतिक गतिविधियों, राजनीतिक एवं अर्ध-राजनैतिक संगठनों इत्यादि द्वारा बुर्जुआ चिन्तन / विश्लेषण प्रणाली को स्थापित करता है। इस ध्येय की पूर्ति के लिये यह वर्ग 21 वीं सदी में भी भारतीय संस्कृति के तमाम प्राक् पूंजीवादी रूपों एवं संस्थाओं का भी कुशलता से उपयोग कर रहा है। यह भारतीय जनता की चेतना का जनवादीकरण नहीं कर रहा है लेकिन उसका पूंजीवादीकरण करने की हर सम्भव कोशिश कर रहा है। भारतीयों को नागरिक बनाये बगैर यह उन्हें उपभोक्ताओं में तब्दील करना चाहता है।

किसान

21 वीं सदी के प्रारम्भ में भारत की कुल कामगार आबादी 40 करोड़ (31 करोड़ मुख्य एवं 9 करोड़ आंशिक) है। इसमें से खेती करने/करवाने वाले किसानों की संख्या करीब 12.7 करोड़ है। चूंकि दूसरों से बंटाई या किराये पर भूमि लेकर खेती करने की प्रथा भारत में बहुत कम हो गयी है (कुल भूमि के 1/10 से भी कम पर और कुल जोतों में से 1/8 से भी कम में) अतः इनमें से 10 करोड़ से ज्यादा किसान लगान न देने वाले स्वतंत्र खुद काशत किसान हैं।

परन्तु इन 12½-13 करोड़ किसानों की निचली पतों में से करीब 5 करोड़ को किसान मानना राजनीतिक अर्थशास्त्र के हिसाब से गलत है। भारत के 12½-13 करोड़ किसानों में से 5 करोड़ से ज्यादा के पास आज 1 एकड़ जमीन (सिंचित क्षेत्रों में 1/2 एकड़) भी नहीं है और 7 करोड़ से ज्यादा के पास 2 एकड़ (सिंचित क्षेत्रों में 1 एकड़) से कम भूमि है। ऐसे में यदि इन सीमांत किसानों में से कुछ इन छोटी-छोटी जोतों पर सब्जी इत्यादि लगाकर सघन खेती कर भी रहे हैं तब भी 5 करोड़ किसान तो ऐसे हैं ही जो कि नाम-मात्र के ही किसान हैं। अपना पारिवारिक जीवन चलाने के लिये वे अन्य काम (सामान्यतः मजदूरी) करते हैं। इन्हें अर्ध-सर्वहारा की श्रेणी में ही रखना ठीक है।

ऐसे ही ऊपर के $1\frac{3}{4}$ - 2 करोड़ भूस्वामी भी नाम मात्र के किसान हैं। ये ग्रामीण सर्वहारा के उजरती श्रम के शोषण पर फलने-फूलने वाले फार्मर अथवा धनी किसान हैं। खेती करवाना इनके लिये फायदेमंद है। इन्हें ग्रामीण पूंजीपति मानना ही राजनीतिक अर्थशास्त्र के हिसाब से ठीक है।

मोटा-मोटी 6 करोड़ कामगार ऐसे हैं जो कि न तो ग्रामीण पूंजीपति हैं और न ही अर्ध-सर्वहारा। ये किसान हैं। इन्हें दो श्रेणियों में विभक्त किया जाना चाहिये छोटे किसान एवं मझोले किसान। भौगोलिक विविधता, जमीन के उपजाऊपन, संसाधनों की उपलब्धता एवं खेती के विकास के स्तर इत्यादि के मद्देनजर देश में करीब 4-4½ करोड़ छोटे किसान हैं। सामान्यतः सिंचाई वाले इलाकों में छोटे किसान के पास 2 एकड़ तक भूमि है और असिंचित इलाकों में 4 एकड़ तक। खेती की सघनता एवं निवेश के बढ़ने पर यह मियाद नीची करनी होगी। ये लोग और इनके 10-12 करोड़ परिवारजन गरीबी की स्थितियों में रहते हैं। इनके ऊपर कर्जों का बोझ है और दुर्घटना अथवा परिवार की आकस्मिक जरूरतों के लिये इन्हें अपने धनी रिश्तेदारों अथवा अन्य स्रोतों के पास भागना पड़ता है। इनकी अर्थव्यवस्थाओं में इस बात की कोई गुंजाइश नहीं है कि ये खेती में से साल भर के खर्चों के बाद कुछ बचत कर ले जायें। चूंकि इनमें से 90% से ज्यादा खुदकाश्त किसान हैं और ये किसी को भू-लगान भी नहीं देते हैं, इस लिये इनका प्रत्यक्ष शोषण नहीं होता है। इन का शोषण बाजार के तंत्र (market mechanism) के द्वारा होता है और इस शोषण के लाभ मूलतः औद्योगिक व व्यापारिक पूंजीपतियों को होते हैं। कुछ हद तक देहाती पूंजीपति भी इससे लाभान्वित होते हैं।

छोटे किसानों के लिये क्रांति फायदेमन्द है और इसी कारण वे इसके भरोसेमन्द मित्र हैं। सर्वप्रथम, क्रांति इन्हें औद्योगिक व व्यापारिक पूंजीपतियों द्वारा नियंत्रित बाजार के शोषण-इजारेदाराना स्थितियों में गैर-बराबरी पर विनिमय-से मुक्ति दिलायेगी। दूसरे, क्रांति इनके ऊपर लदे कर्ज से इन्हें मुक्त करेगी। तीसरे, क्रांतिकारी राजसत्ता इन्हें अनिष्ट के भय व मजबूरियों से मुक्त करेगी, कि वह दुर्घटना एवं आकस्मिक आवश्यकताओं के समय इन्हें बिना ब्याज के ऋण व अन्य सुविधाएं प्रदान करेगी। चौथा, वह इन्हें ग्रामीण अमीरजादों के उत्पीड़न एवं उनकी राजसत्ता के आतंक से मुक्त करेगी। पांचवें, क्रांति इनके तथा इनकी संतानों के सांस्कृतिक विकास के इंतजाम करेगी इत्यादि। ऐसे में अपनी कठिन जीवन परिस्थितियों के चलते इन छोटे किसानों का पूंजीवाद विरोधी क्रांति में हित है। क्रांति की विजय के बाद समाजवादी सहकारिता के लिए ये अपेक्षाकृत आसानी से तैयार हो जायेंगे। सर्वहारा राजसत्ता के स्थायित्व ग्रहण करने पर अपनी निजी जमीन की लालच छोड़ कर सामूहिक खेती के लिये भी इस वर्ग के लोग तैयार होंगे।

छोटे किसानों के ऊपर करीब $1\frac{1}{2}$ -2 करोड़ मझोले किसानों की एक पर्त है। ये भारतीय देहात के अपेक्षाकृत खुशहाल लोग हैं। इनकी जोतों का आकार और उनमें निवेश की जाने वाली पूंजी (Fixed & Working) का स्तर इतना होता है कि इस समूह के 4-5 करोड़ परिवारजनों के साल भर का गुजारा बिना अभाव के हो जाये। आवश्यकता पड़ने पर ये अपनी जोतों पर भाड़े के मजदूर रखते हैं—अर्थात् थोड़ी परिवर्ती पूंजी (Variable Capital) भी इनकी अर्थव्यवस्थाओं का अंग होती है। भारत में पुराने जातिवादी मूल्यों के कारण यह परिघटना—स्वयं खेती कार्य में न लगना—ज्यादा व्यापक है। यदि फसल एवं अन्य स्थितियां ठीक रहें तो ऐसे मझोले किसान अगले वर्ष के लिये थोड़ी-बहुत बचत भी कर लेते हैं।

ये मझोले किसान एक तरफ तो अपने यहां काम करने वाले मजदूरों की श्रम शक्ति का शोषण करते हैं, दूसरी ओर ये बाजार तंत्र के माध्यम से औद्योगिक व व्यवसायिक पूंजीपतियों तथा कुछ हद तक देहाती पूंजीपतियों के हाथों लूटे जाते हैं। सूद के रूप में भी इन्हें बैंकों को अच्छी-खासी रकम हस्तान्तरित करनी पड़ती है और आगामी किश्तों की भरपायी के लिए ये परेशान रहते हैं। इनके ऊपर उठने की सम्भावनाएं अति क्षीण हैं और कृषि संकट के गहराने पर इनकी परेशानियां बढ़ रही हैं। अपनी बीच-बीच की स्थिति में ये बैंकों के कर्ज, बाजार तंत्र की लूट, कृषि संकट से मुक्ति तो चाहते हैं परन्तु ये भारतीय क्रांति के भरोसेमन्द मित्र नहीं हैं। ये भारतीय क्रांति के दुलमुल सहयोगी ही हैं और निजी मालिकों की आकांक्षाओं व पूर्वाग्रहों के कारण इन्हें क्रांति के प्रारम्भिक दौर में मित्र बनाना मुश्किल है। ऐसे प्रारम्भिक दौर में इन्हें तटस्थ करना ही सामान्य रणनीति है। क्रांति की विजय के स्थायी होने पर ही इनका दुलमुलपन समाप्त हो पायेगा।

सिंचित इलाकों में 4-5 एकड़ और असिंचित इलाकों में 8-10 एकड़ से बड़ी जोत का किसान सामान्यतः धनी किसानों की श्रेणी में आता है। खेती व पूंजी निवेश की सघनता के अनुरूप यह मियाद ऊपर-नीचे करनी होगी। इस श्रेणी के लोगों के लिये सामान्य बात यह है कि ये अच्छी-खासी तादाद में मजदूरों की श्रम शक्ति का उपयोग करते हैं और खेती इनके लिये स्पष्टतः पूंजी संचय करने का साधन है। सरकार द्वारा लीज पर दिए गए या आवंटित जमीनों के मालिकों, पुराने भूस्वामियों और नयी पूंजीवादी खेती की बदौलत अस्तित्व में आये कुलकों से निर्मित इस वर्ग के सदस्यों का वर्तमान शोषणकारी व्यवस्था के खात्मे में अहित है और ये भारतीय क्रांति के प्रबल विरोधी हैं। बड़े भूस्वामियों के साथ मिलकर ये धनी किसान भारतीय क्रांति के दुश्मन हैं। अकाली दल, राजद, सपा, शरद जोशी का शेतकारी संगठन, भूपेन्द्र सिंह मान, बलबीर सिंह राजेवाल की भारतीय किसान यूनियन इत्यादि या अजीत सिंह, ओमप्रकाश चौटाला, देवगौड़ा की पार्टियां इस वर्ग की राजनीतिक संस्थायें हैं। इन बड़े किसानों के साथ भारत के क्रांतिकारी वर्गों का कोई रणनीतिक संश्रय संभव नहीं है (किसी परिस्थिति विशेष में रणकौशलतात्मक मोर्चे के कायम हो जाने की सम्भावनाओं से इंकार करना अव्यवहारिकता है)।

किसानों की सबसे निचली पर्त, करीब 5 करोड़ भूजोत प्रचालकों को हम अर्ध-सर्वहारा के बतौर चिन्हित कर चुके हैं। इन के वर्ग-स्वार्थों एवं चरित्र का विश्लेषण हम अलग से करेंगे।

किसान, पुराने भारतीय समाज की विरासत हैं। ये भारतीय समाज का नया वर्ग नहीं हैं। देश में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का विकास इनमें विभेदीकरण बढ़ा रहा है और इन्हें अलग-अलग हितों वाले वर्गों में बांट रहा है। साथ ही साथ पूंजीवादी विकास इनकी निचली कतारों को उजरती मजदूरों में तब्दील करके शोष भारतीय जनता के सापेक्ष इनके समुदाय के आकार को सिकोड़ भी रहा है।

क्रांतिकारी वर्ग होने के बावजूद भारत के छोटे व मझोले किसान आज भारतीय जनता के सबसे असंगठित एवं राजनीतिक तौर पर सबसे पिछड़े हिस्सों में से हैं। पिछड़ी उत्पादक शक्तियों से जुड़े होने एवं छितराये हुए होने के कारण इनकी राजनीतिक कूपमंडूकता और बढ़ जाती है। देश के बड़े हिस्से में ये राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के प्रति उदासीन रहते हैं और संसदीय राजनीति करने वाली पार्टियों को चुनाव में वोट देने तक अपने को सीमित रखते हैं। देश के कुछ इलाकों में ये अपने पृथक वर्ग हितों से बेखबर बड़े किसानों के नेतृत्व में 'समांग किसान हितों' की बात करने वाली किसान-यूनियनों में पिछले दो दशकों में गोलबन्द हुए हैं। पूरे देश में अपवाद स्वरूप ही कुछ ऐसे जिले हैं जहां ये अपने वर्ग हितों के प्रति सचेत हैं—ऐसे अपवाद जिले वे हैं जहां सर्वहारा की क्रांतिकारी विचारधारा से लैस कम्युनिस्ट क्रांतिकारी एक लम्बे समय से इन्हें गोलबन्द करने की कोशिशें कर रहे हैं।

निम्न पूंजीपति वर्ग

किसानों के अलावा भारत में निम्न पूंजीपति वर्ग का एक बड़ा हिस्सा वह है जो भारत का परम्परागत वर्ग नहीं है। यह भारत में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के विकास के साथ-साथ पैदा हुआ है। अंग्रेजों के जमाने से ही उदयीमान वर्ग होने के बावजूद यह मूलतः पिछले 4-5 दशकों में, 1947 के बाद अस्तित्व में आया है। करीब 5-6 करोड़ कामगारों के इर्द-गिर्द गठा हुआ 15-17 करोड़ लोगों का यह वर्ग भारतीय समाज का कोई समरूप वर्ग नहीं है। विविधता ही इसकी पहचान है। इसमें छोटे उद्यमी व छोटे कारखानेदार शामिल हैं, निचली श्रेणी के पत्रकारों से लेकर तमाम किस्म के रिटेलर-दुकानदार शामिल हैं; अध्यापक, क्लर्क, कम्प्यूटर आपरेटर, तमाम तरह के लोग इसके सदस्य हैं। परन्तु इन सबकी आकांक्षाएं एक हैं और इनके जीवन की त्रासदी भी एक हैं। ये सभी अपने ऊपर के वर्ग, शासक पूंजीपति वर्ग, के सदस्य बनने का प्रयास करते हैं। और इनकी सामान्य त्रासदी यह है कि इनके अधिकांश सदस्य जीवन भर के प्रयासों व प्रपंच के बाद भी इस महत्वाकांक्षा को पूरा नहीं कर पाते। सी.पी.आइ., सी.पी.एम., सी.पी.आइ. [एम.एल (लिबरेशन)] इत्यादि इस वर्ग की (छोटे व मध्यम किसानों समेत) प्रतिनिधि पार्टियां हैं।

भारतीय निम्न पूंजीपति वर्ग की एक अन्य विशेषता इसका शैक्षिक स्तर है। इस वर्ग के अधिकांश सदस्य पढ़े-लिखे हैं। क्रांतिकारी व प्रतिक्रांतिकारी, दोनों तरह की शक्तियों के लिये बुद्धिजीवी इस वर्ग से प्राप्त होते हैं। भारत जैसे पिछड़े समाजों में जहां अशिक्षा बहुत ज्यादा है और शिक्षा का बौद्धिक स्तर भी काफी निम्न है, वहां बुद्धिजीवियों की अहमियत बहुत बढ़ जाती है। समाज में बुद्धिजीवियों का प्रभाव उनकी गिनती से कई गुना ज्यादा होता है। सामान्यतः, अगर पूरे वर्ग की बात की जाये तो क्रांतिकारी संघर्षों की सुप्त अवस्था में यह वर्ग समाज में अपनी गिनती और आर्थिक हैसियत की तुलना में अपेक्षाकृत ज्यादा मुखर है। भारतीय शासक वर्ग मध्य वर्ग की इस विशेषता से अच्छी तरह से वाकिफ है। अन्य शासित वर्गों की अपेक्षा वह इसे ज्यादा सुविधाएं व रियायतें देकर शांत रखने की कोशिश करता है। इस के बुद्धिजीवी सदस्यों को—डाक्टरों, वैज्ञानिकों, सफल पत्रकारों, प्रोफेसरों, इंजीनियरों इत्यादि को—शासक वर्ग की राजसत्ता ऊंची तनख्वाहों व तमाम सुविधाओं व मान-सम्मान के रूप में सीधे-सीधे घूस देती है। शेष समाज की पीड़ा व व्यथा के प्रति इस वर्ग, विशेष तौर पर इसके बुद्धिजीवी सदस्यों को, राजसत्ता द्वारा मिलने वाली ऊंची तनख्वाहों अतिरिक्त सुविधाओं व मान-सम्मान ने, असंवेदनशील बनाया है। राजसत्ता उन्हें शोषित-उत्पीड़ित जनता से दूर एवं शासक वर्ग के करीब लाने में सफल रही है।

मझोले किसानों की तरह यह वर्ग भी क्रांति के प्रति दुल-मुल है। क्रांति की सफलता के लिये इस वर्ग के दुलमुलपन एवं अस्थिरता को निष्प्रभावी बनाना निहायत जरूरी है। कम से कम इसे तटस्थ बनाना होगा। सुप्त काल में इसके बुद्धिजीवी हलकों में राजनीतिक प्रचार करना और इस वर्ग के बुद्धिजीवियों को क्रांति के हमदर्दों, कार्यकर्ताओं में तब्दील करना निहायत जरूरी है, क्योंकि ऐसे तत्व अपनी गिनती से कहीं ज्यादा सामाजिक प्रभाव रखते हैं। समाज का एक नया वर्ग होने के चलते इस वर्ग की जड़ता भी परम्परागत वर्गों की अपेक्षा कम है,

इसलिये इसके नौजवान सदस्यों में क्रांतिकारी प्रचार (विशेष तौर पर विद्यार्थियों में) की ग्राह्यता निम्न-पूंजीपति वर्ग के अन्य सदस्यों की अपेक्षा ज्यादा है।

अर्ध-सर्वहारा

आज भारत में करीब 4 हजार शहर एवं कस्बे हैं (इनमें 35 ऐसे शहर हैं जिनकी आबादी दस लाख से ज्यादा है)। इन में भारत के 28.5 करोड़ से ज्यादा नागरिक रहते हैं। नगरवासियों में अच्छी खासी गिनती में ऐसे गरीब लोग हैं जो कि किसी दूसरे के लिये उजरती-मजदूरी नहीं करते बल्कि खुद के लिये काम करते हैं। इनकी स्थिति ऐसी भी नहीं है कि इनके पास पूंजी इतनी हो कि ये किसी दूसरे को अपने यहां नौकर रखें और उसके श्रम का शोषण करें। ऐसे टट्पुंजिया लोग सर्वहारा जैसी जीवन स्थितियों में रहते हैं और पूंजीवादी समाज के छोटे-बड़े संकटों की तबाही झेलते हैं। पान की गुमटी वाले, ठेला लगाने वाले, फड़-फेरी वाले, रिक्शे-तांगे वाले, मोची, 'अपना काम' करने वाले ये लोग भारत के शहरों-कस्बों के अर्ध-सर्वहारा हैं। इन शहरी अर्ध-सर्वहाराओं की गिनती 3-3.5 करोड़ के करीब है (परिवारजनों के साथ यह 7-8 करोड़ का समूह है)। इन्हें शहरी निम्न-पूंजीपति वर्ग की श्रेणी में रखना गलत है।

भारत के देहात में ऐसे किसान परिवार बेशुमार हैं जिनके पास जमीन इतनी थोड़ी है कि वे किसी भी हालत में इससे अपना पेट नहीं पाल सकते। ऐसे परिवारों के कमेरों की मजबूरी है कि वे अपनी जरूरतों के लिये साल भर कोई और काम-मजदूरी, छोटी दुकान, फड़-खोमचा, दूध बेचना इत्यादि करें ही। भारत में 5 करोड़ से ज्यादा कृषक इसी श्रेणी में आते हैं (कुल किसानों में से 40% से अधिक)। इन के पास कुल खेती योग्य भूमि का 4% से भी कम है। इन अति-सीमांत भू-मालिकों को (जिनके पास असिंचित इलाकों में 1 एकड़ व सिंचित इलाकों में 1/2 एकड़ जमीन भी नहीं है) किसान मानना और किसानों की हैसियत से इनके लिये कृषि कार्यक्रम तैयार करना, नई आर्थिक सच्चाइयों से मुंह मोड़ना है। ये लोग माओ के क्रांतिपूर्व चीन के गरीब किसान नहीं हैं, जो कि भूस्वामियों की जमीनें किराये पर लिया करते थे और उन्हें भू-लगान हस्तांतरित करते थे। आज के भारत में 90% से अधिक भूमि खुद काशत है, केवल 10% से कम भूमि किराये अथवा बंटाई पर दी जा रही है। हालत यह है कि दूसरों की जमीन पर खेती करना तो दूर इन अति-सीमांत भू-मालिकों में से 40% से ज्यादा स्वयं अपनी ही भूमि में खेती नहीं कर पा रहे हैं, अन्य काम धंधों से ही अपना पेट पाल रहे हैं चाहे वे दूध बेचने का काम करते हों या कुछ और। ये लोग भारत के अर्ध-सर्वहारा हैं और देहाती सर्वहारा के सबसे करीबी मित्र। देश के ढेर सारे इलाकों में इन्हें किसानों (छोटे या मझोले अथवा दोनों) से अलग देहाती सर्वहारा के साथ ही संगठित करना सही व्यवहार होगा।

सर्वहारा वर्ग

सर्वहारा भारतीय समाज का सबसे क्रांतिकारी वर्ग है और औद्योगिक सर्वहारा इसका सबसे क्रांतिकारी हिस्सा।

भारत में 1 लाख 34 हजार से ज्यादा फैक्ट्रियां हैं और इनमें 1 करोड़ से ज्यादा स्थाई औद्योगिक मजदूर काम करते हैं। ऐसी फैक्ट्रियां जिनमें 500 से ज्यादा स्थाई मजदूर काम करते हैं, 2,000 से ज्यादा हैं। और ऐसी विशाल फैक्ट्रियां जहां 5,000 से ज्यादा स्थाई मजदूर एक दूसरे के साथ सहयोग करके उत्पादन करते हैं, की संख्या 50 से अधिक हैं। ये औद्योगिक मजदूर भारत की सबसे विकसित उत्पादक शक्तियों से सम्बन्धित हैं एवं उनके अंग हैं। साथ ही साथ ये भारतीय इतिहास के सबसे अग्रिम उत्पादन सम्बन्धों में बंधे हुए हैं।

द्वितीय क्षेत्र में कार्यरत श्रमिकों की संख्या 4 करोड़ से ज्यादा है। तृतीय क्षेत्र में 5 करोड़ के करीब मजदूर कार्यरत हैं। प्राथमिक क्षेत्र में खनन कार्यों में करीब 20 लाख मजदूर कार्यरत हैं। कुल मिलाकर कृषि कार्यों के बाहर कार्यरत सर्वहारा की संख्या 9 करोड़ के करीब है।

देश में खेत मजदूरों की संख्या अब 10½ करोड़ के करीब है। जंगलात, मत्स्य पालन, पशुपालन, बागान व सम्बद्ध गतिविधियों में भी 50 लाख से अधिक मजदूर हैं।

देश में विभिन्न प्रकार के मजदूरों की संख्या किसी भी गणना से, अभिजात मध्य वर्गीय मजदूरों को छोड़कर, 20 करोड़ से अधिक है। कुल मिलाकर सर्वहारा भारतीय समाज का न केवल सबसे क्रांतिकारी वर्ग है बल्कि आकार में भी वह सबसे बड़ा वर्ग है। भारत की कुल कामगार आबादी का वह लगभग आधा है। अपनी विशाल संख्या से वह भारतीय क्रांति का चरित्र तय कर दे रहा है—भारत की भावी क्रांति सर्वहारा क्रांति होगी न कि किसान क्रांति।

सर्वहारा और अर्ध-सर्वहारा आबादी का योग देश की कुल कामगार आबादी का 2/3 से अधिक है। इससे भावी क्रांति का चरित्र और स्पष्ट हो उठता है। भारत के विशाल ग्रामीण क्षेत्र में भी सर्वहारा न केवल नेतृत्व प्रदान करेगा बल्कि ये 15½ करोड़ सर्वहारा व अर्ध सर्वहारा ही मुख्य लड़ाकू शक्ति भी बनेंगे। किसान अब भारतीय क्रांति की मुख्य लड़ाकू शक्ति नहीं रह गये हैं। छोटे किसान इस क्रांति में सर्वहारा के सबसे करीबी सहयोगी होंगे।

भारतीय सर्वहारा की वर्तमान चेतना का यदि अंदाज लगाना हो तो सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि संगठित क्षेत्र में कार्यरत कर्मचारियों की संख्या 2 करोड़ 80 लाख से ज्यादा है (अर्थात् ये ऐसी इकाइयों में काम करते हैं जहां कम से कम 10 लोगों की स्थाई टीम काम करती है)। इस संगठित क्षेत्र में कार्यरत लोगों में से सर्वहाराओं की संख्या 2 करोड़ से अधिक है। दूसरे शब्दों में कम से कम 2 करोड़ मजदूर अपने साथियों के साथ परस्पर सहयोग करके किसी पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार अनुशासित ढंग से काम करते हैं। निस्संदेह ये भारत की भावी क्रांति के केन्द्रक हैं। यह भारतीय समाज का सबसे विकसित समूह है।

भारतीय राजसत्ता के श्रम मंत्रालय के 1994 के पुष्टिकरण के पश्चात भारत में औपचारिक पंजीकृत ट्रेड-यूनियनों के सदस्यों की कुल संख्या 1 करोड़ 5 लाख से अधिक थी। इस में कोई शक नहीं कि इस आंकड़े में अभिजात मजदूर एवं अन्य मध्यवर्गीय कर्मचारी भी शामिल हैं परन्तु तब भी यह भारतीय मजदूरों की वर्ग चेतना के अंदाज के लिये एक पैमाना है। यह भारतीय मजदूर वर्ग की संगठित-संयुक्त सौदेबाजी / राजनीतिक कार्यवाही करने की इच्छा को अभिव्यक्त करता है। 90 के दशक के औसत वर्ष में 11 लाख मजदूरों ने 1,300 से अधिक हड़तालों या लॉकआउट में शिरकत की और इनसे सामान्यतः 2 करोड़ 20 लाख से ज्यादा मानव दिनों के कार्य

की क्षति हुई। उक्त हालत तब है जब ये 1 करोड़ 5 लाख मजदूर बी.एम.एस., एच.एम.एस. इंटक, सीटू, एटक जैसी व्यवस्थापरस्त केन्द्रीय ट्रेड-यूनियनों में संगठित हैं।

हमारे देश में राज्य द्वारा सचेत तौर पर ज्यादा सुविधाएं देकर एक छोटा सा ऊपरी अभिजात मजदूर तबका पैदा किया गया है। मजदूर आंदोलन के नेतृत्व में ज्यादातर इन्हीं अभिजात मजदूरों से आये लोग ही काबिज रहे हैं। यह नेतृत्व अपने को एक हद तक बुर्जुआ राज्य के हितों के साथ बांधता रहा है। यही कारण है कि 1990 के दशक में जब राज्य मजदूर वर्ग के प्रति अपनी पहले की नीतियों के विरुद्ध चला गया और खुले तौर पर हमला करने लगा जो अभिजात मजदूरों सहित व्यापक मजदूर वर्ग के विरुद्ध केन्द्रित था, तो मजदूर आंदोलन का स्थापित नेतृत्व इस हमले के विरुद्ध सार्थक प्रतिरोध खड़ा करने की हालत में नहीं रह गया। मौजूदा मजदूर आंदोलन के पतन का यह सबसे महत्वपूर्ण कारण है।

90 के दशक में भारत के यूनियनीकृत मजदूरों में व्यवस्थापरस्त ट्रेड यूनियनों को तोड़ कर अपनी स्वतंत्र पहल लेने की एक स्वतः स्फूर्त प्रवृत्ति भी देखी गयी। जहां-जहां कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों ने इस रुझान के प्रतिनिधियों से सम्पर्क साधा है वहां अच्छे नतीजे भी सामने आये हैं। विभिन्न पूर्व-पार्टी संगठनों में विभाजित भारत का कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन भारतीय सर्वहारा का राजनीतिक प्रतिनिधि है।

संगठित क्षेत्र की तुलना में असंगठित क्षेत्र (ऐसे कार्यस्थल जहां कर्मियों की स्थाई संख्या 10 से कम है) के गैर-कृषि सर्वहारा की संख्या 3 गुनी है, यानि 6 करोड़ मजदूरों से अधिक। देश के ईंट भट्टों से लेकर गैर-मशीनीकृत खनन कार्यों में, घरेलू नौकरानियों से लेकर आढ़तियों के पल्लेदारों तक, सड़क-भवन निर्माण में लगे वयस्क स्त्री-पुरुषों से लेकर स्लेट/कालीन का काम करने वाले बच्चों तक, बुनकरों से लेकर जरी कारीगरों तक असंगठित क्षेत्र के मजदूर अति विषम परिस्थितियों में कार्य व जीवन यापन करते हैं। असंगठित क्षेत्र में उत्पादन के साधन अथवा काम की स्थितियां पिछड़ी हैं और मजदूर-मजदूर सहयोग से सीखने व विकसित होने की सम्भावनाएं भी अपेक्षाकृत कम हैं, परन्तु ये लोग उन्नत उत्पादन सम्बन्धों (उजरती श्रमिक व पूंजीपति मालिक के बीच का रिश्ता) के तहत काम करते हैं और रोजगार की अनिश्चितता के चलते इनका देश-समाज की स्थितियों से परिचय काफी व्यापक होता है। ये सामान्यतः स्थानीय जड़ता व किसानी कूपमंडूकता से काफी हद तक मुक्त होते हैं। उत्पादन सम्बन्ध के प्रत्यक्ष शोषण, उत्पीड़न व कठिन जीवन परिस्थितियों के चलते ये लोग पूंजीवादी समाज के इंकलाबी विकल्प के झंडाबरदार होंगे और किसानों व जनता के अन्य हिस्सों से अपने गहरे अंतर्सम्बन्धों के चलते ये अर्ध-सर्वहारा एवं किसानों के बीच सर्वहारा पार्टी के अच्छे राजनैतिक प्रचारक एवं उनके संघर्षों के नेता होंगे।

ग्रामीण भारत के 10½ करोड़ खेतिहर मजदूर भारतीय क्रांति के एक मजबूत स्तम्भ हैं। ये लोग भारतीय समाज के नये वर्ग हैं और अपने पूर्वजों की अपेक्षा सामन्ती बंधनों एवं सामन्ती उत्पीड़न से काफी हद तक (पूर्णतः नहीं) मुक्त हुए हैं। दरिद्र जीवन स्थितियां और शोषणकारी उत्पादन सम्बन्ध, जो सामन्ती संस्कारों के काफूर होने के साथ-साथ और नग्न व क्रूर दिखाई देने लगे हैं, इन्हें व्यवस्था परिवर्तन एवं क्रांति की ओर धकेलते हैं। कृषि के पिछड़े इलाकों से, काम की खोज में, अपेक्षाकृत विकसित इलाकों की ओर प्रव्रजन (migration) इस वर्ग के सदस्यों के बीच काफी है जो कि उनके जीवन अनुभवों को समृद्ध करता है और उनके मानसिक क्षितिज को फैलाता है। यह वर्ग भारतीय देहात का सबसे उन्नत व क्रांतिकारी वर्ग है, छोटे स्तर की निजी सम्पत्ति से पैदा होने वाली भीरुता व दकियानूसीपन से सबसे ज्यादा मुक्त हं। इस नये, समरूप एवं विशाल वर्ग के इर्द-गिर्द ही देहाती भारत में शोषण से मुक्ति पाने के लिये अन्य शोषित वर्ग गोलबन्द होंगे और संघर्ष लड़े जायेंगे।

विशाल अर्ध-सर्वहारा आबादी के साथ मिलकर देहाती सर्वहारा भारत के ग्रामीण इलाकों का सबसे बड़ा वर्ग बन जाता है। भावी क्रांति में इसकी अहम् व पृथक भूमिका को नजरअंदाज करने वाले भारतीय कम्युनिस्ट क्रांतिकारी एक बहुत बड़ी रणनीतिक गलती कर रहे हैं। किसानों के लिये कृषि कार्यक्रम से अलग भारत के देहाती सर्वहारा को क्रांति की अपने स्वतंत्र वर्ग हितों के लिये जरूरत है, भावी क्रांति में उसका स्वतंत्र एजेन्डा है।

भारतीय समाज की वर्तमान वर्गीय-संरचना का विश्लेषण करने पर केन्द्रीय निष्कर्ष यही निकलता है कि यह क्रांति सर्वहारा समाजवादी क्रांति होगी। सूत्र के रूप में इसकी रणनीतिक लाइन इस प्रकार है :

क्रांति का उद्देश्य	: पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का खात्मा (साथ में साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति)
क्रांति का मुख्य शत्रु	: भारतीय इजारेदार पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में समस्त शहरी व ग्रामीण पूंजीपति वर्ग तथा इनके पीछे छिपा साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग
क्रांति की मुख्य लड़ाकू शक्ति	: औद्योगिक सर्वहारा के नेतृत्व में संगठित व असंगठित क्षेत्र के सर्वहारा, ग्रामीण सर्वहारा व शहरी / ग्रामीण अर्ध-सर्वहारा
क्रांति के फौरी रिजर्व	: छोटे किसान
क्रांति के दुल-मुल मित्र	: मझोले किसान व अन्य निम्न पूंजीपति वर्ग
मुख्य हमले की दिशा	: बुर्जुआ तानाशाही को उखाड़ फेंककर सर्वहारा तानाशाही कायम करना
क्रांति के उप-उत्पाद	: जनवादी क्रांति के बचे-खुचे कार्यभारों को पूरा करना एवं शोषण-उत्पीड़न के सभी प्राक् पूंजीवादी रूपों का खात्मा

V. क्रांति की तैयारियां

भारतीय समाज के मूलाधार एवं अधिरचना में विगत एक-डेढ़ दशकों में जो परिवर्तन हुए हैं उनसे इसका पूंजीवादी चरित्र और स्पष्टता से उभरा है। समाज का वर्गीय संघटन (class-composition) भी जिस हद तक बदल गया है वह भी भारतीय क्रांति के सर्वहारा चरित्र को उद्घाटित करता है—अर्थात् एक ऐसी क्रांति जिसमें औद्योगिक सर्वहारा के नेतृत्व में समस्त सर्वहारा व अर्ध-सर्वहारा मुख्य लड़ाकू शक्ति होंगे और जिसमें छोटे किसान

इनके सबसे भरोसेमन्द मित्र होंगे। मझोले किसान एवं अन्य देहाती एवं शहरी निम्न पूंजीपति वर्ग इसके ढुलमुल सहयोगी होंगे। तीन वर्गों के रणनीतिक संश्रय पर आधारित यह क्रांति पूंजीवाद विरोधी क्रांति होगी जो कि उपउत्पाद के बतौर जनवादी क्रांति के अधूरे कार्यभारों को पूरा करेगी।

साम्राज्यवादी चौखटे को तोड़ना और भारत को साम्राज्यवादी शोषण-उत्पीड़न से मुक्त करना इस क्रांति का एक अहम् कार्यभार होगा। इस कार्यभार को पूरा करने के लिये यह क्रांति भारत में साम्राज्यवाद के वर्तमान सामाजिक अवलम्ब, इजारेदार पूंजीपतियों के नेतृत्व में समस्त शहरी एवं देहाती पूंजीपति वर्ग को अपना निशाना बनायेगी।

सामन्ती अवशेषों का खात्मा, जनवादी क्रांति के बचे हुए कार्यों को भारत की सर्वहारा क्रांति लगे हाथ साथ ही साथ निपटा देगी। इनके लिये अलग से क्रांति करने की अब आवश्यकता नहीं रह गयी है और न ही पूंजीपति वर्ग का कोई धड़ा इन्हें पूरा करने में सर्वहारा का साथ ही देगा। किसानों के ऊपरी हिस्से की भी अब इन्हें पूरा करने में दिलचस्पी नहीं है बल्कि जनवाद की कमी उसके द्वारा खेत मजदूरों के शोषण में आज सहायक ही है। दूसरी ओर धनी किसान आज सामन्तों के दबदबे से भी त्रस्त नहीं है। इसलिये क्रांति के बचे-खुचे जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के लिये भी समस्त किसान समुदाय आगे नहीं आयेगा।

भारतीय क्रांति के सामन्तवाद विरोधी एवं राष्ट्रीय कार्यभारों को आज सर्वहारा की समाजवादी क्रांति ही पूरा करेगी। भारतीय इतिहास की ये धाराएँ भारत की पूंजीवाद विरोधी समाजवादी क्रांति की धारा में समाहित हो चुकी हैं।

यह क्रांति भारत के औद्योगिक सर्वहारा के नेतृत्व में होगी।

सर्वहारा इस क्रांति का नेतृत्व अपनी पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी के जरिये करेगा और साथ ही साथ एक सुगठित चेतना संपन्न वर्ग के बतौर भी वह क्रांति में अन्य वर्गों की अगुवाई करेगा। आज भारत का सर्वहारा न तो इतना चेतना सम्पन्न है कि एक वर्ग की हैसियत से वह समाज के अन्य वर्गों को क्रांति में नेतृत्व प्रदान कर सके और न ही देशव्यापी पैमाने पर उसकी कोई पार्टी ही अस्तित्वमान है। यह स्थिति भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के सामने दोहरे (परंतु अंतरसंबन्धित) कार्यभार प्रस्तुत कर रही है। एक ओर कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का केन्द्रीय कार्यभार यह है कि वे अपने छितराए हुए पूर्व-पार्टी संगठनों को सही विचारधारात्मक-राजनीतिक-सांगठनिक लाइन पर खड़ा करें और अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना का रास्ता साफ करें। दूसरी ओर कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को भारतीय मजदूर वर्ग को व्यवस्था परस्त राजनीति के चंगुल से बाहर निकाल कर उसे उसके ऐतिहासिक मिशन से परिचित करवाना है और उसे इतना चेतना संपन्न बनाना है कि वह समाज के अन्य वर्गों को नेतृत्व प्रदान कर सके। समाज में क्रांति के अन्य मित्र वर्गों एवं तबकों के बीच कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के कार्य की दिशा एवं पैठ काफी हद तक उक्त दोहरे कार्यभार की प्रगति पर निर्भर करती है। इन्हें अनदेखा करने या इनके प्रति उदासीन होने पर मित्र वर्गों/तबकों के बीच कम्युनिस्टों की पैठ की न केवल सीमाएं हैं बल्कि वे गम्भीर भटकावों का शिकार होने से बच नहीं पायेंगे।

भावी क्रांति के नेतृत्व के लिए भारतीय सर्वहारा को एक लेनिनवादी पार्टी की जरूरत है। आज एक लेनिनवादी पार्टी के गठन में सबसे बड़ी समस्या विचारधारात्मक अपरिपक्वता है। मार्क्सवाद की उथली समझदारी हम कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को अनेक गलत निष्कर्षों तक पहुंचाती है और हमारी एकता को कमजोर करती है। इतिहास के इस वर्तमान दौर में भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन को दक्षिणपंथी रूझानों से ज्यादा खतरा है। चीन में

पूँजीवादी विपर्यय के बाद हमारे आंदोलन में तरह-तरह की दक्षिणपंथी प्रवृत्तियां बलवती हुई हैं और कई कम्युनिस्ट ग्रुप इनसे बुरी तरह से ग्रस्त रहे हैं, कुछ तो इस हद तक कि वे संशोधनवादी ही हो चले। अपने संगठनों के भीतर दक्षिणपंथी प्रवृत्तियों से स्पष्ट विचारधारात्मक संघर्ष और समग्र कम्युनिस्ट आंदोलन में वक्त रहते इनकी बेलाग-लपेट आलोचना इस समस्या से उबरने के लिए निहायत जरूरी है। जनकार्यों के दबाव में या अन्य सांगठनिक व्यस्तताओं की आड़ में विचारधारात्मक संघर्ष की अहमियत को अनदेखा करना या इनसे किनारा काटने का रूख हमारे आंदोलन के लिये घातक सिद्ध हो रहा है। हमारे आंदोलन के संगठनों द्वारा किये जा रहे व्यावहारिक कार्यों के राजनीतिक सारसंकलनों एवं अन्य महत्वपूर्ण मुद्दों पर वैचारिक संघर्ष को गम्भीरता से संचालित किये बगैर विचारधारात्मक परिपक्वता हासिल नहीं की जा सकती है। इसके बिना देश में एक लेनिनवादी पार्टी का गठन असम्भव है। क्रांति की रणनीति, उसके रणकौशल, सांगठनिक लाइन इत्यादि के मतभेदों को वैज्ञानिक समाजवाद की वैचारिक कसौटी पर ही सुलझाया जा सकता है।

किसी क्रांतिकारी ग्रुप अथवा पार्टी के लेनिनवादी पार्टी में ढलने की एक आवश्यक शर्त है उस ग्रुप/पार्टी में मजदूरों की भौतिक उपस्थिति। एक लेनिनवादी पार्टी के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने के लिए इतना पर्याप्त नहीं है कि हमारे आंदोलन के घटक संगठन अपनी ऊर्जा का मुख्य हिस्सा समाज के बुनियादी मेहनतकश वर्गों को गोलबंद करने में लगायें। अर्ध-सर्वहारा या छोटे किसान परिवेश से आने वाले साथी निस्संदेह किसी पार्टी संगठन के चरित्र को मजबूत करते हैं परंतु जब तक किसी पार्टी-संगठन में सर्वहारा पृष्ठभूमि के साथी सदस्य नहीं बनेंगे तब तक उसका सर्वहारा चरित्र उभर नहीं पायेगा। आधुनिक भारत में, विगत दशकों के पूँजीवादी विकास के चलते, एक मजदूर आधारित पार्टी के निर्माण की संभावनाएं बहुत बढ़ी हैं। देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को इन नई स्थितियों का पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए अपनी ऊर्जा का मुख्य हिस्सा सर्वहारा वर्ग में लगाना पड़ेगा। मूलतः शहर व देहात के सर्वहाराओं की पार्टी का निर्माण करते हुए हमें क्रांति के अन्य मित्र वर्गों/तबकों को कम्युनिस्ट पार्टी की ओर आकर्षित करना है। मित्र वर्गों/तबकों की गोलबंदी हमारी प्राथमिकताओं में है परंतु इनके बीच पार्टी कार्य को सर्वहाराओं के बीच पार्टी कार्य के बराबर या ऊपर रखना गलत है।

कोई कम्युनिस्ट संगठन अथवा पार्टी निजी संपत्ति की मानसिकता से कितनी मुक्त है, इस बात की परख उसके अंतर्राष्ट्रवाद से होती है। भारत जैसे समाज में जहां निजी संपत्ति की जड़ें काफी गहरी हैं वहां स्थानीयतावाद, संकीर्णतावाद, सांगठनिक आत्मकेन्द्रितता इत्यादि अनेक रूपों में निजी संपत्ति की मानसिकता कम्युनिस्ट ग्रुपों के भीतर अभिव्यक्ति होती है। इन बीमारियों से मुक्त होने के लिए हमें बहुत गहराई से इस बात को समझना है कि भारतीय क्रांति विश्व सर्वहारा क्रांति का अंश भर है, कि दुनिया के अन्य देशों के क्रांतिकारी संघर्षों से हमारा उतना ही सरोकार होना चाहिए जितना अपने संघर्षों से। यह सरोकार मात्र नैतिक समर्थन तक सीमित नहीं होना चाहिए, यह उन क्रांतियों में हर संभव भौतिक योगदान एवं उनके लिए कुर्बानियों के स्तर का होना चाहिए। भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन में सर्वहारा अंतर्राष्ट्रवाद का विकास, देश में एकल कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के लिए रास्ता साफ करेगा।

पार्टी गठन एवं पार्टी निर्माण के महत्वपूर्ण कार्य के तहत समूचे मजदूर वर्ग को भारतीय क्रांति के नेतृत्वकारी वर्ग के बतौर विकसित करना भावी क्रांति की तैयारियों का अहम् हिस्सा है। आज भारतीय सर्वहारा का बड़ा हिस्सा (देहाती सर्वहारा एवं असंगठित क्षेत्र के उद्योगों का अधिकांश सर्वहारा) किसी भी तरह संगठनबद्ध नहीं है। जो औद्योगिक सर्वहारा ट्रेड-यूनियन आंदोलन के तहत संगठनबद्ध हैं उनका ट्रेड-यूनियन आंदोलन भी बुरी तरह

से वर्ग-सहयोग तथा कानूनवाद की दलदल में धंसा हुआ है। संशोधनवादियों से लेकर हिन्दू फासिस्टों तक अनेक किस्म की पूंजीवादी विचारधाराओं वाले लोग सर्वहारा के ट्रेड-यूनियन आंदोलन को नेतृत्व प्रदान कर रहे हैं। ट्रेड-यूनियन आंदोलन का एक बहुत ही छोटा हिस्सा कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के नेतृत्व में संगठित है। औद्योगिक सर्वहारा के ट्रेड-यूनियन आंदोलन को वर्ग-सहयोग, अर्थवाद एवं कानूनवाद से बाहर निकालने के लिए केन्द्रीय ट्रेड-यूनियनों के वर्तमान ढाँचे को तोड़कर, सर्वहारा वर्ग दृष्टि एवं सर्वहारा के ऐतिहासिक मिशन को पूरा करने के लिए गठित नये केन्द्र के इर्द-गिर्द संगठित करना होगा। केन्द्रीय ट्रेड-यूनियनों का वर्तमान ढाँचा पूंजीपतियों के नियंत्रण तंत्र का अभिन्न अंग बना हुआ है। यह सर्वहारा के क्रांतिकारी संघर्षों के लिए न केवल बेजान एवं बेकार है, बल्कि इसके संचालक घाघ व क्रांतिकारी संघर्षों के सचेत विरोधी हैं। वे समस्त सर्वहारा संघर्षों को अर्थवाद, सुधारवाद के दायरे में ही सीमित करके रखते हैं। संगठित क्षेत्र के औद्योगिक सर्वहारा को अर्थवाद, सुधारवाद की दलदल से उबारना और समस्त सर्वहारा को उसके पृथक वर्ग हितों एवं ऐतिहासिक मिशन के प्रति सचेत बनाना भावी क्रांति की तैयारियों का अहम् हिस्सा है। कम्युनिस्ट पार्टी सर्वहारा वर्ग की सबसे आगे बढ़ी हुई टुकड़ी होती है, परंतु क्रांति में यह समग्र सर्वहारा वर्ग की नेतृत्वकारी भूमिका का विस्थापन नहीं है। क्रांतियों में सर्वहारा उसी हद तक नेतृत्व दे पाता है जिस हद तक उसके वर्ग की राजनीतिक चेतना विकसित हो पाती है। क्रांतियों में कम्युनिस्ट पार्टी की पहलकदमी, एक वर्ग के बतौर सर्वहारा की नेतृत्वकारी भूमिका को बढ़ाती है, यह उसका विस्थापन नहीं है।

अपनी पृथक वर्गीय पहचान को कायम रखते हुए सर्वहारा, क्रांति के अन्य मित्र वर्गों (अर्ध-सर्वहाराओं, छोटे किसानों, मझोले किसानों एवं निम्न पूंजीपति वर्ग के अन्य हिस्सों) के साथ क्रांतिकारी संघर्षों में संयुक्त मोर्चा कायम करेगा। संयुक्त मोर्चे के बिना क्रांति सफल नहीं हो सकती। परंतु संयुक्त मोर्चे में हिस्सेदारी करते समय सर्वहारा अपने दूरगामी लक्ष्य को भुला कर मित्र वर्गों के फौरी कार्यक्रम को अपना कार्यक्रम मानने की गलती नहीं कर सकता। इसके ठीक उल्टे संयुक्त मोर्चे में सर्वहारा, मित्र वर्गों को अपने फौरी कार्यक्रम (जो कि उसके दीर्घकालिक कार्यक्रम का हिस्सा है) पर खड़ा करने की कोशिश करेगा। किसी भी सूरत में अपनी वर्गीय जमीन छोड़कर, छोटे पैमाने के उत्पादन को बनाये रखने के लिए सर्वहारा संयुक्त मोर्चे में शामिल नहीं होगा। साम्राज्यवादी, पूंजीवादी शोषण एवं सामंती अवशेषों के खिलाफ मित्र वर्गों की आंशिक मांगों (partial demands) के समर्थन में सर्वहारा निस्संदेह खड़ा होगा परंतु वह मित्र वर्गों को उनके संघर्ष के हर कदम पर इस बात का एहसास करवायेगा कि उनकी पूर्ण मुक्ति समाजवाद में ही हो सकती है वर्तमान समाज के किसी मानवीय रूप में नहीं। ऊपर निरूपित अवधारणा के तहत कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को सर्वहारा के राजनीतिज्ञों की हैसियत से मित्र वर्गों/तबकों के बीच काम करना है और उन्हें क्रांति के लिए गोलबंद करना है।

सर्वहारा एवं मित्र वर्गों को क्रांति के लिए तैयार करने के दौरान कम्युनिस्ट, भारतीय राजव्यवस्था के सीमित जनवाद का पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए जहां एक ओर वैधानिक संघर्ष खड़े करेंगे वहीं वे साथ ही साथ संघर्षरत जन के बीच ऐसे संघर्षों की सीमाओं का खुलासा भी करेंगे। उत्पीड़ित जन को हम इस बात का एहसास करवायेंगे कि मुक्ति के लिये वैधानिक चौखटे को तोड़ना कितना जरूरी है। वैधानिक चौखटे के बाहर हम सर्वहारा एवं मित्र वर्गों के संघर्ष खड़े करेंगे। साथ ही साथ हम राजसत्ता के खिलाफ आम बगावत की तैयारी करेंगे।

कुल मिलाकर स्थिति यह है कि तात्कालिक तौर पर क्रांतिकारी संकट आसन्न नहीं है। फिर भी, भारतीय शासक वर्ग निरंतर संकटग्रस्त है। हर अगला संकट शासक वर्ग के लिए और ज्यादा बड़ा होता है। लगभग ठहराव

की हालत में अर्थव्यवस्था राजनीतिक अस्थिरता को और ज्यादा बढ़ा रही है। जिस प्रकार साम्राज्यवादी देश अपने संकट का बोझ भारत जैसे देशों पर डाल रहे हैं और बदले में भारत के शासक वर्ग अपने संकट से उबरने के लिए यहां मजदूर वर्ग और मेहनतकश जनता पर बोझ डाल रहे हैं, इससे अवाम की जिंदगी और ज्यादा असहनीय होती जा रही है। ऐसी स्थिति चौतरफा—आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और अन्य—संकट को गहरा रही है। भारतीय शासक वर्ग मजदूर वर्ग और अन्य मेहनतकश जनसमुदाय से आने वाले दिनों में अपना बचाव करने के लिए हर तरह के दमनकारी हथियारों से अपने को लैस करता जा रहा है। यह उसके व्यापक मेहनतकश अवाम से अलगाव का सूचक है। यह शासक वर्ग की मजबूती की नहीं बल्कि कमजोरी की पहचान है।

दूसरी तरफ, शासक वर्ग के चौतरफा आक्रमण के समक्ष यहां का मजदूर वर्ग और व्यापक मेहनतकश अवाम छिटपुट ही सही अपने को संघर्ष में लगाने की कोशिश कर रहे हैं। संशोधनवादी—सुधारवादी नेतृत्व मजदूर आंदोलन को पहले अंधी गली में डाल चुके थे, वे अब शासक वर्ग के नए हमलों में उसकी अगुवाई भी नहीं कर पा रहे हैं। नए हमलों के समक्ष मौजूदा स्थापित नेतृत्व किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है। नये नेतृत्व के अंतर्गत जगह-जगह मजदूर वर्ग पहलकदमी ले रहा है। मेहनतकश जन-समुदाय के अलग-अलग हिस्से कहीं स्वतःस्फूर्त तरीके से तो कहीं संगठित हो कर शासक वर्ग के हमलों का जवाब दे रहे हैं। जन संघर्षों के सैलाब आगे आने वाले दिनों में और तेज होंगे और यहीं कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की भूमिका महत्वपूर्ण व निर्णायक होगी।

कोई भी व्यवस्था कितनी भी संकटग्रस्त हो जाय, कितनी ही सड़-गल क्यों न जाय अपने आप नहीं गिरेगी और न ही इतिहास के रंगमंच से तिरोहित होगी। इसे बलपूर्वक गिराना होगा। यह स्वतःस्फूर्त तरीके से नहीं बल्कि सचेत और संगठित प्रयासों से गिरेगी। हम, कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आने वाले समय में मजदूर वर्ग और व्यापक मेहनतकश अवाम के संघर्षों की अगुवाई करेंगे। हम देश के राजनीति की व्याख्या ही नहीं करेंगे बल्कि उसे दिशा देंगे। हम घटनाओं के पीछे-पीछे चलने के बजाय उन्हें निर्धारित करेंगे। ऐसा करते हुए हम समाजवादी क्रांति सम्पन्न करेंगे।

निश्चित ही, इसका रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा है और कठिन है, लेकिन विजय मजदूर वर्ग और मेहनतकश अवाम की ही होगी, हमारी ही होगी।

इस ऐतिहासिक सच्चाई को वास्तविकता में बदलने की हमारी जिम्मेदारी है। आइए, इसे सम्पन्न करने के लिए हम कटिबद्ध हों।

समाजवादी क्रांति जिंदाबाद!

मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा जिंदाबाद!!

